* गीता अनुक्रमणिका *

* निवेदन *

संसार में रहकर भी मनुष्य को उचित है कि जहां तक हो सके मनको परमार्थ की तरफ झुकावे क्योंकि निःश्रेयस कल्याण का हेतु परमार्थ ही है इस गीतासंग्रह में १२ गीताओं का संग्रह किया गया है जिनके विचार पूर्वक पढ़ने से मनुष्य को यथार्थ लाभ हो सक्ता है ॥

अथ पितापुत्रसंवादे गीता

युधिष्ठिरउवाच—अतिक्रामतिकालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे।
किंश्रेयःप्रतिपद्येत तन्मेब्रूहिपितामह ! ॥१॥

महाराज युधिष्ठिर भीष्मजीसे पूछते हैं कि—हे पितामह ! इस दौड़ते हुए, सर्वनाशक काल—समयको जाता हुआ जानकर मनुष्यको कौनसा कल्याण का मार्ग ढूंढना चाहिये उसको आप मुझे समझाकर कहिये ॥ १ ॥

भीष्मउवाच—अत्राप्युदाहरन्तीम–मितिहासंपुरातनम्।
पितुःपुत्रेणसंवादं तन्निबोधयुधिष्ठिर ! ॥ २ ॥
द्विजातेःकस्यचित्पार्थ ! स्वाध्यायनिरतस्यवै।
बभूवपुत्रोमेधावी मेधावीनामनामतः ॥ ३ ॥
सोऽब्रवीत्पितरंपुत्रः स्वाध्यायकरणेरतम्।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥ ॥४॥

भीष्मजी राजा युधिष्ठिरजीसे कहते हैं कि हे कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर ! तुम ने जो प्रश्न किया है इसी विषयमें पितापुत्रका संवादरूप पुराना इतिहास कहा जाता है उसको तुम सुनो समझो। किसी वेदपाठी ब्राह्मणका मेधावी नामक उत्तम बुद्धि वाला पुत्र था वह मोक्ष धर्मका तत्त्वार्थ समझनेमें कुशल तथा संसारके तत्त्वको यथार्थ जानने वाला [अर्थात् धर्म, अर्थ, काम मोक्षों में से काम वा धनमें आसक्त न हुआ बालब्रह्मचारी था] मेधावी एक समय अपने वेदपाठी पितासे बोलाकि ॥ ३—४ ॥

पुत्रउवाच—धीरःकिंस्वित्तात ! कुर्यात्प्रजानन् क्षिप्रंह्यायु-
र्भ्रश्यतेमानवानाम्। पितस्तदाचक्ष्वयथार्थयोगं
ममानुपूर्व्यायेनधर्मंचरेयम् ! ॥ ५ ॥

पुत्र अपने पितासे बोला कि—हे पूज्य पितः ! मनुष्योंका आयु शीघ्र २ नष्ट हो रहा है इस बातको धीर पुरुष जानता हुआ क्या करे ? । हे पितः ! इस बातको मुझसे क्रमपूर्वक कहिये जिससे मैं धर्मको ही करूं ॥ ५ ॥

जब कोई कहीं जाना चाहता है तो पहिलेसे जानेकी तयारी करता है

वैसे ही अवश्य आने वाले मृत्युके पश्चात्‌की बड़ी यात्राके लिये बड़ी तयारी करो वहां शरीरादि साधन कुछ नहीं जायगा किन्तु केवल अच्छे बुरे संचित कर्म ही साथ जायंगे ॥

पितोवाच–वेदानधीत्यब्रह्मचर्येणपुत्र ! पुत्रानिच्छेत्पावनार्थंपितॄणाम् । अग्नीनाधायविधिवच्चेष्टयज्ञो वनंप्रविश्याथमुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने उत्तर दिया कि हे पुत्र ! मनुष्य पहिले ब्रह्मचर्याश्रममें रह कर वेदोंको पढ़े पश्चात् श्राद्ध तर्पणादि द्वारा मृतपितरोंको तारनेकेलिये गृहाश्रम में रह कर पुत्रोंको उत्पन्न करे उसके बाद अग्न्याधान करके सोमयागादि यज्ञ करे पीछे वनमें जाकर मुनि होनेके लिये प्रयत्न करे अर्थात् वानप्रस्थ होके तप करे इस प्रकार तीनों आश्रमका कृत्य पूराकर लेने पर ऋणोंसे मुक्त होकर मुक्तिको प्राप्त हो सकता है [बीचके सामान्य मनुष्यके लिये यह मार्ग है]॥

पुत्रउवाच–एवमभ्याहतेलोके समन्तात्परिवारिते ।
अमोघासुपतन्तीषु किंधीरइवभाषसे ॥ ७ ॥

पुत्र बोला कि हे पितः ! इस प्रकार नाना प्रकारके दुःखोंसे लोगोंके अत्यन्त पीडित होने तथा अनेक शिथिलतादि सम्बन्धिनी विपत्तियोंने घेरे होने पर और निवृत्त न होने वाली विपत्तियोंके आ २ कर ऊपर गिरने पर भी आप धीरज वालोंके तुल्य क्या कहते हो ? ॥ ७ ॥

पितोवाच–कथमभ्याहतोलोकः केनवापरिवारितः ।
अमोघाःकाःपतन्तीह किन्नुभीषयसीवमाम् ॥८॥

पिताने कहा कि हे पुत्र ! लोक अभ्याहत (मारा हुआ) किस प्रकार है तथा किससे घेरा हुआ है और अमोघा कौन हैं जो आती जाती हैं । हे पुत्र ! तू ऐसा वचन कहकर क्या मुझे डराना चाहता है ? ॥ ८ ॥

पुत्रउवाच–मृत्युनाभ्याहतोलोको जरयापरिवारितः ।
अमोघारात्रयश्चापि नित्यमायान्तियान्तिच ॥९॥
यदाहमेतज्जानामि नमृत्युस्तिष्ठतीतिह ।
सोऽहंकथंप्रतीक्षिष्ये ज्ञानेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

पुत्र बोला कि हे पितः ! यह लोक, मृत्युसे मारा हुआ तथा वृद्धावस्थासे घेरा हुआ है आने जाने वाली ये रात्रियां अमोघा कहलाती हैं। जब मैं इस बातको भली भांति जानता हूं कि—मृत्यु बराबर प्राणियोंको मारता ही जा रहा है किन्तु कोई चाहे कि मैं अभी न मरूं तो मृत्यु कुछ भी काल ठहरता नहीं अर्थात् खड़ा नहीं रहता तब मैं ऐसा जानता हुआ मृत्यु की क्यों प्रतीक्षा (इन्तजारी) करूं ॥ ९ । १० ॥

रात्र्यांरात्र्यांव्यतीताया—मायुरल्पतरंयदा ।
तदैववन्ध्यंदिवस—मितिविद्याद्विचक्षणः ॥ ११ ॥
गाधोदकेमत्स्यइव सुखंविन्देतकस्तदा ।
अनवाप्तेषुकामेषु मृत्युरभ्येतिमानवम् ॥ १२ ॥
पुष्पाणीवविचिन्वन्त—मन्यत्रगतमानसम् ।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादायगच्छति ॥ १३ ॥
अद्यैवकुरुयच्छ्रेयो मात्वांकालोत्यगादयम् ।
अकृतेष्वेवकार्य्येषु मृत्युर्वैसम्प्रकर्षति ॥ १४ ॥
श्वःकार्यमद्यकुर्वीत पूर्वाह्णेचापराह्णिकम् ।
नहिप्रतीक्षतेमृत्युः कृतमस्यनवाकृतम् ॥ १५ ॥
कोहिजानातिकस्याद्य मृत्युकालोभविष्यति ।
युवैवधर्मशीलःस्या—दनित्यंखलुजीवितम् ।
कृतेधर्मेभवेत्कीर्त्ति—रिहप्रेत्यचवैसुखम् ॥ १६ ॥

पुत्र पितासे फिर कहने लगा कि—हे पितः ! एक २ रात्रिके व्यतीत होने पर थोड़ा २ आयु नित्य २ घटता जाता है इसी प्रकार प्रत्येक दिन भी आयु का नाशक है इस बातको बुद्धिमान् पुरुष जान लेवे । गहरे जलमें मच्छके समान अगाध संसारमें कौन विचार शील पुरुष सुख पा सकता है ? क्योंकि मनुष्योंके मनोरथ पूरे नहीं होने पाते परन्तु मृत्यु शीघ्रतासे पासमें आ खड़ा होता है । पुष्पोंको बटोरते हुए की भांति अन्य कार्योंमें लगे भूले हुए पुरुष को मृत्यु लेकर इस प्रकार चला जाता है जैसे मेढ़ाको वृकी (भेड़ियन) लेकर चली जावे । हे पितः ! तुम आज ही कल्याणकारी कार्योंको करो तुम्हारा

यह काल व्यर्थ न चला जावे क्योंकि कामोंके पूरा न होने पर ही मृत्यु मनुष्योंको खींच लेता है। मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह कलके कामको आज और दोपहरके पश्चात् करने योग्य कार्यको दोपहरसे पहिले कर लेवे क्योंकि मनुष्योंके काम पूर्ण हो गये वा नहीं इस बातकी प्रतीक्षा मृत्यु नहीं करता। कौन जानता है कि आज किसका मृत्यु होगा इस कारण पुरुषको चाहिये कि युवा समर्थ होते ही धर्म करने लगे किन्तु यह न सोचे कि वृद्ध होंगे तब धर्म कर लेंगे अभी आनन्द भोगें। क्योंकि जीवन क्षणभङ्गुर है। जो धर्म करता है उसको इस लोकमें कीर्त्ति और परलोकमें उसको सुख होता है॥१६॥

यदि मनुष्यको संसारकी अनित्यताका ध्यान सदा बना रहे, निरन्तर चलने वाले संसारचक्रके घूमनेका शब्द इसके कानोंमें प्रत्येक समय सुनाई पड़ता रहे, संसारस्थ प्राणियोंको मरते देख २ यदि मनुष्यको बार २ निरन्तर शिक्षा मिलती रहे, यदि मनुष्य मोहरूप मद्यको पीकर शुधि बुधि भूला न रहे किन्तु सचेत रहता हुआ अपने प्रधान कर्त्तव्यसे न डिगे तो कल्याणभागी हो सकता है॥

मोहेनहिसमाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः।
कृत्वाकार्य्यमकार्य्यंवा पुष्टिमेषांप्रयच्छति॥ १७॥
तंपुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसंनरम्।
सुप्तंव्याघ्रोमृगमिव मृत्युरादायगच्छति॥ १८॥
संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रःपशुमिवादाय मृत्युरादायगच्छति॥ १९॥
इदंकृतमिदंकार्य्य=मिदमन्यत्कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तःकुरुतेवशे॥ २०॥

अज्ञानी पुरुष पुत्र, स्त्री आदिके लिये कर्त्तव्य अकर्त्तव्य काम करके पुत्र स्त्री आदिको पुष्ट किया करता है। पुत्र स्त्री और पशुओंसे युक्त, कार्योंमें फंसे हुए उस मनुष्यको मृत्यु इस प्रकार ले जाता है जैसे सोते हुए मृगको व्याघ्र ले जावे। कामनाओंको बटोरते हुए तथा कामों से तृप्त न हुए पुरुषको मृत्यु इस प्रकार ले जाता है जैसे बाघ पशुको ले जावे। यह काम मैंने कर लिया यह मुझे करना है और यह अन्य कार्य बीचमें पड़ा पूरा करना है इस प्रकार आशाके सुखमें भूले हुए पुरुषको मृत्यु नष्ट करलेता है॥ २१।२२॥

जो भूलमें नहीं पड़ा किन्तु हरवार सचेत रहता हुआ अपने कल्याणार्थ भी कुछ २ जप तप परोपकारादि करता जाता है उसका भी मृत्यु अवश्य होता है पर धर्मका संचय करलेनेसे उसके समीप अच्छे साधनोंका बल हो जाता है जिससे वह घबराता नहीं तथा मृत्युका दुःख भी उसको अधिक पीडित नहीं करता ॥

कृतानांफलमप्राप्तं कर्म्मणांकर्मसंज्ञितम् ।
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादायगच्छति ॥ २१ ॥
दुर्बलंबलवन्तंच शूरंभीरुंजडंकविम् ।
अप्राप्तंसर्वकामार्थान् मृत्युरादायगच्छति ॥ २२ ॥
मृत्युर्जराचव्याधिश्च दुःखंचानेककारणम् ।
अनुषक्तंयदादेहे किंस्वस्थइवतिष्ठसि ॥ २३ ॥
जातमेवान्तकोऽन्ताय जराचान्वेतिदेहिनम् ।
अनुषक्ताद्वयेनैते भावाःस्थावरजङ्गमाः ॥ २४ ॥
मृत्योर्वामुखमेतद्वै याग्रामेवसतोरतिः ।
देवानामेषवैगोष्ठो यदरण्यमितिश्रुतिः ॥ २५ ॥
निबन्धनीरज्जुरेषा याग्रामेवसतोरतिः ।
छित्त्वैतांसुकृतोयान्ति नैनांछिन्दन्तिदुष्कृतः ॥ २६ ॥

जिसको किये हुए कर्मोंका फल प्राप्त नहीं हुआ तथा जो खेती, दूकान, घर आदिके कामोंकी फंसावटमें भूला हुआ ऐसे पुरुषको मृत्यु लेकर चलदेता है। दुर्बल हो वा बलवान् हो, शूर-मारने वाला साहसी हो वा डरपोंक हो पर मृत्यु किसीको नहीं छोड़ता किन्तु निर्बलादि सब मनुष्योंको अपनी कामनाको वा धनादि पदार्थोंको पूर्ण प्राप्त करपानेसे प्रथम ही मृत्यु उठाले जाता है। पुत्र पितासे कहता है कि--हे पितः! जब इस देहमें मृत्यु, जरावस्था अनेक रोग और अनेक कारण वाले अनेक दुःख निवास करते हैं तब तुम वेखटक क्यों बैठे हो? अर्थात सचेत होजाओ। न जाने कौन मृत्यु आदि शत्रु किस समय तुमको धर दबावे। उत्पन्न होते ही पुरुषके पास मारनेके लिये मृत्यु तथा जरा अवस्था आ जाती है और अवसर पाकर ये दोनों अपना

काम करती हैं। इस मृत्यु और वृद्धावस्थासे सब जड़चेतन पदार्थ घिरेहुए हैं। ग्राम [जनसमुदाय] में वास और ग्राम्य पदार्थोंसे प्रेम ये दो वातें ही मृत्युका मुख्य कारण हैं। देवोंका सिद्धान्त है कि वनमें तपस्यादि करनेसे मृत्यु दूर भागजाता है। शुद्ध एकान्त निर्जनवन मृत्युहीन देवस्थानके तुल्य है। ग्राममें वास और ग्राम्य पदार्थोंमें तद्रूपता (तन्मयता) से प्रेम रखना ये दो वातें मानो संसारमें बांधनेकेलिये एक रज्जु (रस्सी) हैं। इस उक्त रज्जुको पुण्यात्मा धर्मशील ही काट सकते हैं पापी कदापि नहीं काट सकते २१। २६॥

इन उक्त श्लोकोंमें कहे विषयपर यदि मनुष्यका ठीक २ विचार बना रहे वा यह कथन जिसके हृदयमें निवास करले वह प्रेय विषयोंमें आसक्त होके अगाध संसार सागरकी तरङ्गोंमें पड़ाहुआ गोता खाया करे यह सम्भव नहीं। भूलमें पड़े रहना अविद्या और मृत्युका ठीक २ यथार्थरूप दीखना तथा शरीरको अनित्य समझना यथार्थज्ञान वा तत्त्वज्ञान वा विद्या नाम वेदतत्त्वार्थज्ञता का प्राप्त होना मोक्षका हेतु है॥

नहिंसयतियोजन्तून् मनोवाक्कायहेतुभिः।
जीवितार्थापनयनैः कर्मभिर्नसबध्यते॥ २७॥
नमृत्युसेनामायान्तीं जातुकश्चित्प्रबाधते।
ऋतेसत्यमसत्त्याज्यं सत्येह्यमृतमाश्रितम्॥ २८॥
तस्मात्सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः।
सत्यागमःसदादान्तः सत्येनैवान्तकंजयेत्॥ २९॥
अमृतंचैवमृत्युश्च द्वयंदेहेप्रतिष्ठितम्।
मृत्युरापद्यतेमोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥ ३०॥

जो मनुष्य=मन, वाणी, शरीर और आक्षेपादि निमित्तोंसे प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता कराता अर्थात् मानसविचारादिसे किसीको दुख देनेकी चेष्टा नहीं करता वह जीवन मरणके प्रवाह में बहाने वाले कर्म्मों से नहीं बन्धता। सत्यके सिवाय अन्य कोई ऐसा नहीं है जो आते हुए मृत्युकी सेना को किसी प्रकार कदापि रोक देवे ईश्वर भगवान्से भिन्न सब संसार असत् है उसे छोड़ना चाहिये एक सत्य ही रूप परमात्मा है उसी अपरिणामी सत्य में अमृत स्थित है। इस कारण मनुष्यको उचित है कि सत्यव्रत, सत्ययोग,

सत्यशास्त्रोंका स्वाध्याय करता हुआ तथा जितेन्द्रिय होकर सत्य से ही मृत्यु को जीत लेवे। इस शरीरमें अमृत और मृत्यु दोनों स्थित हैं। अज्ञानसे मृत्यु और सत्य भगवान्के ज्ञानसे अमृत प्राप्त होता है॥

सब अनर्थ वा पापोंका मूल परपीड़ा रूप हिंसा तथा सब धर्म वा पुण्यों का मूल अहिंसा वा दया है हिंसासे बन्धनका हेतु भययुक्त संस्कार संचित होता और दया वा अहिंसाके सेवनसे निर्भयता मुक्तिका हेतु होती है। प्रकाश ही अन्धकारको हटा सकता है अन्य कोई नहीं। शरीरमें नाभिसे ऊपर अर्ध भाग में रहने वाला प्राण ज्ञान अमृत वा प्रकाश ही स्वस्थदशामें आने पर अमृत वा मोक्षका हेतु है। नाभिसे नीचेके भागमें स्थित विषया-सक्तिका हेतु अपान, अज्ञान, मृत्युवा अन्धकार ही प्रबल पड़ा संसारचक्रका चलाने वाला है॥

सोऽहंह्यहिंस्रःसत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः।
समदुःखसुखःक्षेमी मृत्युंहास्याम्यमर्त्यवत्॥ ३१॥
शान्तियज्ञरतोदान्तो ब्रह्मयज्ञेस्थितोमुनिः।
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने॥ ३२॥
पशुयज्ञैःकथंहिंस्रै-र्मादृशोयष्टुमर्हति।
अन्तवद्भिरिवप्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैःपिशाचवत्॥ ३३॥

सो मैं हिंसा न करने वाला, सत्यको चाहने वाला काम, और क्रोधको छोड़कर सुख, दुःख को समान मानता हुआ कुशलक्षेम पूर्वक देवों के समान मृत्युको छोड़ दूंगा। और शान्तिरूप यज्ञमें मन लगाता हुआ ब्रह्मयज्ञमें त-त्पर होऊंगा तथा उत्तरायणमें मैं जितेन्द्रियता पूर्वक मन और वाणीका उत्तर के कारणमें यज्ञ नाम होम करता हुआ मानूंगा कि मैं मानो देवयज्ञ ही क-रता हूं। मुझ सरीखा समझता हुआ पुरुष जिन यज्ञोंमें पशुहिंसाकी जाती है ऐसे यज्ञोंसे यजन योग्य नहीं क्योंकि इन परिमित फल वाले यज्ञोंको धर्म की ओर प्रबल वा उत्तम निष्ठा रखता हुआ परमार्थी पुरुष पिशाच—राक्षस के समान बन कर नहीं कर सकता॥ ३१-३३॥

हिंसा का मूल क्रोध वा द्वेष है और द्वेषका हेतु कामकी सूक्ष्म वासना है [कामात्क्रोधोऽभिजायते] क्योंकि कामसे ही क्रोध होता है। काम का

नाभिसे नीचे अधोभागमें रहने वाले अपानके साथ पूर्ण मेल है तो सिद्ध हुआ कि मृत्यु वा अज्ञान का साथी क्रोध वा द्वेष नाम हिंसा है इसी से प्रायः क्रोधी लोग ही अधिक सताये वा मारे जाते हैं। जो संसार के दुःखों से बचना वा मुक्ति चाहता है वह सबसे पहिले हिंसा क्रोध द्वेषादिका त्याग और दया वा अहिंसाका धारण करे ॥

यस्यवाङ्मनसेस्यातां सम्यक्प्रणिहितेसदा ।
तपस्त्यागश्चयोगश्च सवैपरमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥
नास्तिविद्यासमंचक्षु र्नास्तिसत्यसमंतपः ।
नास्तिरागसमन्दुःखं नास्तित्यागसमंसुखम् ॥ ३५ ॥
आत्मन्येवात्मनाजात आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपिवा ।
आत्मन्येवभविष्यामि नमान्तारयतिप्रजा ॥ ३६ ॥

जिसके मन और वाणी ठीक सदा जीते हुए वशमें रहते हैं तथा जिस का तप, दान और योग ठीक दशाका है वही पुरुष सबसे परे परमात्मा वा मोक्षको प्राप्तहो सकता है। विद्याके समान नेत्र, सत्यके समान तप, राग के तुल्य दुःख और त्यागके समान कहीं सुख नहीं है। मेरा आत्मा अनादि होनेके कारण किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है तथा वह आत्मा अपने रूपमें ही स्थित है यह किसी दूसरे जीवको उत्पन्न नहीं करता है अतः मैं अपने रूप में अवस्थित होऊंगा (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् योगद०) मुझे सांसारिक प्रजा औलाद नहीं तार सकती है ॥ ३४—३६ ॥

मन वाणीका वशीभूत होना तथा तप, त्याग [वैराग्य] और योग नाम चित्त का समाधान एकाग्रता होना यही कल्याण वा मुक्ति का मार्ग है। विद्या शब्दसे वेद लेना चाहिये [पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुःसनातनम्। मनु० अ० १२] पितृ, देव, तथा मनुष्योंका वेद ही सनातन चक्षु है। सारांश यह है कि मनुष्य प्रथम विषयोंका संग छोड़ना आरम्भ करे और इसीमें कल्याण माने क्योंकि विषय ही वस्तुतः विष हैं केवल एक यकार विषय शब्दमें विष से अधिक है पर न्यूनता कुछ नहीं ॥

नैतादृशंब्राह्मणस्यास्तिवित्तं यथैकतासमतासत्यताच ।
शीलंस्थितिर्दण्डनिधानमार्ज्जवं ततस्ततश्चोपरमःक्रियाभ्यः ३७॥

किन्तेधनैर्बान्धवैर्वापिकिन्ते किन्तेदारैर्ब्राह्मणयोमरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छगुहांप्रविष्टं पितामहास्तेक्वगताःपिताच॥३८॥

वह मेधावी ब्राह्मणका पुत्र अपने पितासे कहता है कि हे ब्राह्मण ? पितः ! ब्राह्मणका ऐसा अन्य कोई धन नहीं है जैसी कि एकता, समता, सत्यता, शील, धर्ममें स्थिति, तपस्या करना, कोमलता और संसारी कामों से निवृत्ति वैराग्य करना धन है । हे पितः ! जब तुम्हारा मरना निश्चित ही है तब तुमको धन, बान्धव और स्त्रीसे कोई प्रयोजन नहीं है मरण भय उपस्थित होते ही धनादिका सुख धूलिवत् हो जाता है । जिस आत्माको अज्ञानवश मनुष्य जान नहीं सक्ता उसको तुम खोजो–चाहो । थोड़ी देर सोचो तो सही कि तुम्हारे पितामह और पिता आदि पूर्वज कहां गये ! ! ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अज्ञानी बालक कहाता और कल्याणमार्गका उपदेश करने वाला ज्ञानी पुरुष पिता होता है इस मनुजीके कथनानुसार व्यवहारमें कहने मात्र पिता अज्ञानी होने से पुत्रवत् वा शिष्यवत् हुआ और जो कहनेमें पुत्र था वही शास्त्रानुकूल उपदेश द्वारा रक्षक पालक होनेसे मुख्य पिता हुआ जानो । पूर्वकालमें ऐसे २ शुद्ध संस्कारी पुत्र होते थे जो पिताको भी उपदेश देकर कल्याण मार्गमें लाते थे ॥

भीष्मउवाच–पुत्रस्यैतद्वचःश्रुत्वा यथाकार्षीत्पितानृप ! ।
तथात्वमपिवर्त्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी राजा युधिष्ठिरजीसे अन्तमें कहते हैं कि–हे नृप ! युधिष्ठिर ! जैसे पुत्रके वचनको सुनकर पिताने किया था वैसे ही तुम भी सत्य और धर्ममें परायण होकर वर्त्ताव करो ॥ ३९ ॥

इति शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पिता पुत्रसंवादे १७५ तमोऽध्यायः ॥

अथ मङ्किगीता ॥

युधिष्ठिर उवाच—ईहमानःसमारम्भान् यदिनासादयेद्धनम् ।
धनतृष्णाभिभूतश्च किंकुर्वन्सुखमाप्नुयात् ॥

राजा युधिष्ठिरजी भीष्मजीसे पूछते हैं कि--हे पितामह ! यदि मनुष्य धन प्राप्तिकेलिये बहुतसे कार्योंका आरम्भ करता हुआ भी धनको न पावे तो बतलाइये कि उस धनकी चाहना वाले, पुरुषको किस कार्यके करने से सुख वा सन्तोष मिल सकता है ॥ १ ॥

भीष्मउवाच—सर्वसाम्यमनायासः सत्यवाक्यंञ्चभारत ! ।
निर्वेदश्चाविधित्साच यस्यस्यात्ससुखीनरः ॥२॥
एतान्येवपदान्याहुः पञ्चवृद्धाःप्रशान्तये ।
एषस्वर्गश्चधर्मश्च सुखंचानुत्तमंमतम् ॥ ३ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीम–मितिहासंपुरातनम् ।
निर्वेदान्मङ्किनागीतं तन्निबोधयुधिष्ठिर ! ॥४ ॥

भीष्मजी कहते हैं कि—हे भरतकुलोत्पन्न युधिष्ठिर ! जिस पुरुष में–१ सर्व समता, २—अनायास, ३—सत्यबोलना, ४—वैराग्य,--उदासीनता और ५—नये २ कार्योंका आरम्भ न करना ये पांच गुण होते हैं वह सुखी होता है । वृद्ध ज्ञानी पुरुष इन्हीं उक्त पांच गुणोंको शान्तिका पद—साधन कहते हैं, इन्हीं पांचोसे स्वर्ग मिलता, धर्मसंचित होता और सर्वोत्तम सुख मिलता है । इस विषयमें वृद्धजन इस पुराने इतिहासको कहते हैं जो इतिहास वैराग्यवान्--उदासीन मङ्कि नामक पुरुषने गाया है इसीसे इसका नाम मङ्किगीता हुआ उसको तुम सुनो समझो ॥ २ । ४ ॥

परमार्थ वा मुक्ति [सब दुःखोंसे छूटने] का सर्वोपरि यही द्वार है कि १ समता, २--शान्ति, ३-- सत्यभाषण [जैसा मनमें हो वही वाणीसे कहना] ४--भोगोंसे उदासीनता और ५--विषयभोगके नये २ उद्योगोंका न करना । किसीको शत्रु किसीको मित्र समझना किसीको अपना किसीको विराना समझना इत्यादि विषमता ही दुःखका मूल है । शान्ति न रहनेसे व्याकुलता के साथ इधर उधर अधिक भागनेसे दुःख तथा सन्तोष रखनेसे सुख हो-

ता, मिथ्याभाषणसे दुःखके हेतु भय लज्जा शङ्काहोते हैं। विषयोंसे उदासीनता न हो तो वहां तृष्णा वा राग ही दुःखोंका मूल है। और विषयभोगके लिये नये २ उद्योग भविष्यत्में होने वाले दुःखोंके बीज जानो। इन्हीं पांचोंका वर्णन मङ्किगीता में होगा ॥

ईहमानोधनंमङ्कि-र्भग्नेहश्चपुनःपुनः।
केनचिद्धनशेषेण क्रीतवान्दम्यगोयुगम्॥ ५॥
सुसम्बद्धौतुतौदम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ।
आसीनमुष्ट्रमध्येन सहसैवाभ्यधावताम्॥ ६॥
तयोःसम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः।
उत्थायोत्क्षिप्यतौदम्यौ प्रससारमहाजवः॥ ७॥
ह्रियमाणौतुतौदम्यौ तेनोष्ट्रेणप्रमाथिना।
म्रियमाणौचसंप्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम्॥ ८॥

पूर्वकालमें मङ्कि नामक पुरुषने धन प्राप्तिके लिये अनेक चेष्टायें या उद्योग किये परन्तु उनके सब उद्योग वार २ निष्फल हुए। पश्चात् मङ्किने शेष रहे थोड़े धनसे दो बछड़े (जिन्होंने माताका दुग्ध पीना छोड़ दिया था) मोल लिये। वे दोनों वछड़े जोठ लगाकर फिरानेकेलिये मङ्किने बाहर निकाले, निकाले हुए वे दोनों वछड़े बैठे हुए ऊंटके बीचमें होकर शीघ्रतासे दौड़े उन दोनों बछड़ोंको उस प्रकार निकलते हुए देख ऊंट सहन न करके अपने कण्ठमें आईहुई बछड़ोंकी जुड़ी रस्सी [जिसमें दोनों ओर बछड़े थे] को लिये उठा और उसने दोनों वछड़ोंको ऊपरको उठाके अपनी लम्बी ग्रीवा, (गर्दन) वेगसे फैलायी उस बलवान् ऊंटसे उन दोनों उठाये मरते हुए वछड़ोंको देखकर मङ्कि यह वचन बोले कि:--॥५। ८॥

नचैवाविहितंशक्यं दक्षेणापीहितंधनम्।
युक्तेनश्रद्धयासम्य-गीहांसमनुतिष्ठता॥ ९॥

चतुर पुरुष भी प्रारब्धके बिना वाञ्छित धनको प्राप्त नहीं हो सकता चाहे वह श्रद्धासे युक्त हुआ कितना ही उद्योग क्यों न करे॥ ९॥

कृतस्यपूर्वंनानर्थै-र्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः।
इमंपश्यतसंगत्या ममदैवमुपप्लवम्॥ १०॥

उद्धन्ध्योद्बाश्वमेद्दृश्वौ विपथेनैवगच्छतः ।
उत्क्षिप्यकाकतालीय-मुत्पथेनैवधावतः ॥ ११ ॥
मणीवोष्ट्रस्यलम्बेते प्रियौवत्सतरौमम ।
मुहुर्हिदैवमेवैवं हठेनैवास्तिपौरुषम् ॥ १२ ॥
यदिवाप्युपपद्येत पौरुषंनामकर्हिचित् ।
अन्विष्यमाणंतदपि दैवमेवावतिष्ठते ॥ १३ ॥
तस्मान्निर्वेदएवेह गन्तव्यःसुखमिच्छता ।
सुखंस्वपितिनिर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ॥ १४ ॥
अहोसम्यक्शुकेनोक्तं सर्वतःपरिमुच्यता ।
प्रतिष्ठतामहारण्यं जनकस्यनिवेशनात् ॥ १५ ॥
यःकामानाप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागोविशिष्यते ॥ १६ ॥

मैं क्रियमाण बुरे कर्मोंसे युक्त नहीं हूं तथा उद्योगमें तत्पर हूं तथापि देखो संयोगसे दैव (प्रारब्ध) रूपअन्धी कैसा उपद्रव [विपत्ति] है । मेरे बछड़े उछल २ के भी विपथमार्गमें न हीं जाया करते थे परन्तु आज काकतालीय न्याय से आकाशमार्गसे जाते हैं । मेरे प्यारे बछड़े ऊंटके कण्ठमें दो मणियोंके समान लटकते हैं यह केवल प्रारब्ध ही का फल है हठसे कोई पुरुषार्थको प्रधान कहे तो भी नहीं हो सकता । यदि कभी कहीं पुरुषार्थकी भी प्रधानता दीख पड़ती है तो वहां भी खोज करने वा विशेष विचारनेसे अन्तमें दैव--प्रारब्ध ही प्रबल ठहरता है । तिससे सुख चाहने वाला पुरुष--उदासीनता--वैराग्यको ही धारण करे क्योंकि वैराग्यवान् और प्रयोजनसिद्धिसे निराश हुआ पुरुष सुखपूर्वक सोता है । भक्ति कहते हैं कि--ओहो ! सबका त्याग करते हुए और जनकके घर से महावन को समाधिस्थ होने के लिये प्रस्थान करते हुए शुकदेव जी ने बहुत अच्छा कहा है वह यह है कि--"इस संसारमें जो पुरुष सब कामों को प्राप्त हो जावे और जो पुरुष इन कामनाओं को छोड़ देवे इन दोनोंमें कामनाओं को छोड़ने वाला बहुत अच्छा है ॥ १०-१६ ॥

प्रारब्ध को प्रधान वा बड़ा माननेके साथ आस्तिकताका बड़ा सम्बन्ध है। कर्म फल अवश्य भोगना पड़ता है ऐसा विश्वास ही शुभ कर्मोंको कराता तथा नीच कर्मोंसे बचाता है। प्रारब्धानुसार किसीको लेशमात्र धनादिका सुख मिले भी तो उसके आगे पीछे वा बीच २ सब समय में दुःख अवश्य रहेंगे। धनादिकी चाहना रखने वाला कदापि दुःखोंसे बच नहीं सकता इस कारण उदासीन होने में ही सुख है थोड़ा सुख अधिक दुःखमें गिना नहीं जायगा प्रधानमें ही शब्दका प्रयोग होता है॥

नान्तंसर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्तिकश्चन।
शरीरेजीवितेचैव तृष्णामन्दस्यवर्द्धते ॥ १७ ॥
निवर्त्तस्वविधित्साभ्यः शाम्यनिर्विण्णकामुक!॥
असकृच्चाखिनिकृतो नचनिर्विद्यसेततः ॥ १८ ॥
यदिनाहंविनाश्यस्ते यद्येवंरमसेमया।
मामांयोजयलोभेन वृथात्वंवित्तकामुक! ॥ १९ ॥
संचितंसंचितंद्रव्यं नष्टंतवपुनःपुनः।
कदाचिन्मोक्ष्यसेमूढ! धनेहांधनकामुक! ॥ २० ॥

भक्ति विचार करता है कि अनादिकाल से अब तक कोई भी पुरुष मनोरथोंके पार नहीं गया और जब तक यह शरीर जीवित रहता है तब तक अज्ञानी की तृष्णा बढ़ती ही जाती है। हे काम! सब मनोरथों से निवृत्ति हो तथा उदासीन होकर शान्त हो जा। हे काम! तू मनोरथोंके पूर्ण न होनेसे अनेक बार तिरस्कृत हुआ दाव हारा परन्तु तुझे मनोरथों से उदासीनता नहीं होती। यदि तू मुझे नष्ट करना चाहता यदि तू मेरे साथ इस तरह विद्यमान है तो हे धन की कामना करने वाले काम! मुझे लोभ के साथ व्यर्थ युक्त मत कर। हे काम! अनेक बार इकट्ठा किया २ तेरा धन बार २ नष्ट हो गया। हे मूढ़! धन की कामना करने वाले लोभ! इस धन की आशाको कब छोड़ेगा? ॥ १७–२० ॥

[आमृत्युतोनैवमनोरथाना–मन्तोऽस्तिविज्ञातमिदंमयाद्य।
मनोरथासक्तिपरस्यचित्तं नजायतेवैपरमार्थसङ्गि! ॥]

मृत्यु होने पर्यन्त अभिलाषा किसीकी पूरी नहीं होती और मनोरथों में आसक्त रहने वाले किसी पुरुषका चित्त कभी परमार्थ की ओर नहीं लगता। यही बात सांख्य अ० ४ सू० २७ में [न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥] कही है कि भोगसे रागकी शान्ति नहीं होती जैसे कि सौभरि मुनिका राग भोगोंसे न शान्त हुआ इस लिये विवेकसम्बन्धी विचारसे रागको शान्त करते हुए सुख प्राप्तिका उद्योग करे॥

अहोनुममबालिश्यं योऽहंक्रीडनकस्तव।
किन्त्वेवंजातुपुरुषः परेषांप्रेष्यतामियात्॥ २१॥
नपूर्वेनपरेजातु कामानामन्तमाप्नुवन्।
त्यक्त्वासर्वसमारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मिजागृमि ॥२२॥
नूनंतेहृदयंकाम! वज्रसारमयंदृढम्।
यदनर्थशताविष्टं शतधानविदीर्यते॥ २३॥
जानामिकाम!त्वांचैव यच्चकिंचित्प्रियंतव।
तवाहंप्रियमन्विच्छ न्नात्मन्युपलभेसुखम्॥ २४॥
काम! जानामितेमूलं संकल्पात्किलजायसे।
नत्वांसंकल्पयिष्यामि समूलोनभविष्यसि॥ २५॥

मङ्कि कहते हैं कि-हे काम। मेरी यह बड़ी मूर्खता है जो मैं तेरा क्रीडनक (खिलौना) बना हुआ हूं। पुरुषको सर्वदा उचित है कि वह भोगों की तृष्णासे दूसरोंका सेवक कदापि न बने। इस संसारमें पहिले और पिछले कोई भी पुरुष मनोरथोंके अन्तको नहीं पहुंचे। मैं अबसे सब सांसारिक सुख भोगार्थ कार्यारम्भोंको छोड़कर सचेत हुआ जागता हूं। हे काम! तेरा हृदय वज्रसार हीराके समान निःसन्देह अतिकठोर है जो सैकड़ों अनर्थोंसे युक्त होने पर भी सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाता। हे काम! मैं तुझको और तेरे प्रिय कार्यको जानता हूं। मैं तेरा प्रिय करता हुआ अपने अन्तःकरणमें कभी सुखको प्राप्त नहीं हो सकता। हे काम! मैं तेरी जड़को जानता हूं अर्थात् विदित हुआ है कि तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। अबसे आगे मैं संकल्प ही न करूंगा इससे तू समूल ही न रहेगा=नष्ट हो जायगा॥ २१-२५॥

यद्यपि मनुधर्मशास्त्रमें लिखा है कि विना कामनाके धर्मानुष्ठानादि शुभ कर्म भी नहीं हो सकता इस लिये कहीं कामना करना भी किसीको कर्त्तव्य है तथापि शुभ कर्मकी कामना अशुभकी चाहनासे ही अच्छी होना मनुजी का सिद्धान्त है किन्तु शुभाशुभ सब कामनाओंके त्यागकी अपेक्षा शुभ कामना करना भी सदोष होनेसे त्यागकोटिमें रहेगा ॥

ईहाधनस्यनसुखा लब्धचिन्ताचभूयसी ।
लब्धनाशेयथामृत्यु र्लब्धंभवतिवानवा ॥ २६ ॥
परित्यागेनलभते ततोदुःखतरंनुकिम् ।
नचतुष्यतिलब्धन भूयएवतुमार्गति ॥ २७ ॥
अनुतर्षुलएवार्थः स्वादुगाङ्गमिवोदकम् ।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मिसंत्यज ॥ २८ ॥
यइमंमामकंदेहं भूतग्रामः समाश्रितः ।
सयात्वितोयथाकामं वसतांवायथासुखम् ॥ २९ ॥
नयुष्मास्विहमेप्रीतिः कामलोभानुसारिषु ।
तस्मादुत्सृज्यकामान्वै सत्यमेवाश्रयाम्यहम् ॥ ३० ॥

धनकी प्राप्तिके लिये जो उद्योग किया जाता है उसमें तो सिवाय दुःख के सुखका लेश नहीं है। जब धन प्राप्त हो जाता है तब उसकी रक्षा आदि के लिये बहुत बड़ी चिन्ता हो जाती है। और धनके नाशमें मृत्युके समान दुःख है ही। धन प्राप्ति के लिये जो उद्योग किया जाता है उससे धन प्राप्त होता है वा नहीं भी होता। उद्योगके परित्यागमें धन प्राप्त नहीं होता तथा धनके अभावमें दरिद्रतासे बड़ा लोकमें कोई अन्य दुःख नहीं दरिद्रता ही बड़ा दुःख है। यदि उद्योग द्वारा प्राप्त भी हो जाय तो उस धन लाभसे आगे को सन्तुष्ट नहीं होता किन्तु तृष्णा बढ़ती और धनके अधिक २ खोजने में लगता है अर्थ=धन, अहङ्कार वा मद [नशा] को अवश्य लाने वाला है जिसके निकट धन है उसको निर्धनकी अपेक्षा थोड़ा वा बहुत मद, अहङ्कार अवश्य होता है। इसी लिये मेरा यह विलाप करना [रोना] [कि मुझको धनकी तृष्णाने बड़ा दुःख दिया] ही गङ्गा जलके समान मेरे लिये स्वादु है

यही रोना तुझे याद लगावेगा। इसीसे हे काम! अब मैं जाग गया हूं तू मुझे छोड़। इस मेरे प्रत्यक्ष शरीर में जो पृथिव्यादि भूतोंका समुदाय जहां २ से आ २ कर ठहरा है वह चाहे तो अपने २ पृथिव्यादि कारण में भले ही जाकर मिलजावें। अथवा इसी शरीरमें वास करे अर्थात् चाहे यह शरीर आज ही मर जावे वा जीवित रहे पर मुझे इसमें अब प्रीति नहीं रही। क्योंकि इस शरीरमें इकट्ठे हुए पृथिव्यादि तत्वों में ही काम क्रोधादि रहते हैं जो सबके एकत्र हो शरीर रूप बननेमें उमड़ते हैं। जैसे मद्यादिकी पात्र आदिमें मद=नशा ठसाठस भरा होता है वैसे पृथिव्यादि तत्वोंमें ही कामादि व्याप्त हैं शरीररूप बनने पर आत्माके मेलसे वे ही कामादि प्रकट होजाते हैं जिससे मैं कामनाओंको छोड़के सत्य [जो अविनाशी सदा विद्यमान रहे ऐसी दशा] का ही शरण लेता हूं॥

विकृत कार्य दशामें जो २ झगड़े वा विरोधादि द्वारा कष्ट प्रकट होते हैं वे कारण दशामें स्वयमेव शान्त हो जाते हैं। कार्य सब विकारी एक रूप में न रहने वाला अनित्य वा असत्य है और कारण अविकारी सत्य है। पृथिव्यादि तत्व शरीरमें आकर अपने ही सारांशरूप चांदी सुवर्णादि धन को अपनी स्वाभाविक आकर्षणशक्तिसे खैंचते वा चाहते हैं इसीसे देहाभिमान छूटते ही तृष्णा भी नहीं रहती ॥ २६=३० ॥

सर्वभूतान्यहंदेहे पश्यन्मनसिचात्मनः।
योगेबुद्धिंश्रुतेसत्यं मनोब्रह्मणिधारयन् ॥ ३१ ॥
विहरिष्याम्यनासक्तः सुखीलोकान्निरामयः।
यथात्वंपुनर्नैव दुःखेषुप्रणिधास्यसि ॥ ३२ ॥
त्वयाहिमेप्रणुन्नस्य गतिरन्यानविद्यते।
तृष्णाशोकश्रमाणांहि त्वंकामप्रभवः सदा ॥ ३३ ॥
धननाशेऽधिकंदुःखं मन्येसर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयोह्यवमन्यन्ते मित्राणिचधनाच्युतम् ॥ ३४ ॥
अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाःकष्टतराधने।
धनेसुखकलायातु सापिदुःखैर्विधीयते ॥ ३५ ॥

भक्ति विचार करते हैं कि-मैं अपने कामादि के आधार शरीर में कामादि शत्रुओं को पालने वाले पृथिव्यादि भूतों को देखता जानता हुआ और मन में आत्मा को देखता हुआ कि भूतों से भिन्न शरीर कुछ नहीं, तथा आत्मा के विना मन का मनस्त्व कुछ नहीं है ऐसा जानता और योग में बुद्धि, वेद में आस्तिकता-श्रद्धा और ब्रह्म में मन को लगाता हुआ आसक्ति नाम लागालिपटी को छोड़ के सब उपद्रवों से रहित सुखी होकर सब लोकों में विचरूंगा जिस से हे काम ! तू मुझ को दुःखों के बीच में फिर न पटकेगा। हे काम ! जब मैं तुझे सर्वथा दबा दूंगा वा हटा दूंगा तब तेरी दूसरी कोई गति नहीं है जो मुझ पर तू आक्रमण कर सके। हे काम! तुही तृष्णा, शोक और थकावट से होने वाले दुःखों का उपादान कारण है। मैं मानता हूं कि धन का नाश सब दुःखों से बड़ा है क्योंकि ज्ञाति--भाई बन्धु कुटुम्बी और मित्र सब धन से च्युत हुए का सहस्रों प्रकार के तिरस्कार के हेतु कामों से अपमान करते हैं। इस से जानना चाहिये कि धन में आगे और पीछे बड़े दोष हैं और धन में जो सुख का लेश है वह भी बड़े दुःखों के पश्चात् सिद्ध होता है ३१--३५ (जैसे दश रुपया खर्च करने पर चार आने का सुवर्ण किसी मट्टी में से निकले तो वह काम कर्त्तव्य नहीं ठहरता वैसे धन की प्राप्ति में सौगुणा दुःख उठाने पर यदि एकगुणा सुख धन से मिले भी तो ९९ गुणा दुःख अधिक ही रहा इस से वह सुख भी दुःख ही है) वा सुख कुछ भी नहीं, जिस के लिये उद्योग वा श्रम किया जाय। [धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता] यदि कोई धर्म के लिये धनोपार्जन करता है तो बड़ी भूल है क्योंकि धनोपार्जन अधर्म के विना कदापि नहीं हो सकता (नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवतीति व्यासभाष्यम्) इसकारण उससे किया धर्म अधर्म की बराबर होना भी कठिन है। कीचड़ में सने हाथ कीचड़से ही धोने पर शुद्ध नहीं हो सकते ॥

धनमस्येतिपुरुषं पुरोनिघ्नन्तिदस्यवः।
क्लिश्यन्तिविविधैर्दण्डै-र्नित्यमुद्वेजयन्तिच ॥ ३६ ॥
अर्थलोलुपतादुःख-मितिबुद्धंचिरान्मया।
यद्यदालम्बसेकाम! तत्तदेवानुरुध्यसे।
अतत्वज्ञोऽसिबालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः ॥ ३७ ॥
नैवत्वंवेत्थसुलभं नैवत्वंवेत्थदुर्लभम्।

पातालमिवदुष्पूरो मांदुःखैर्योक्तुमिच्छसि ॥
नाहमद्यसमावेष्टुं शक्यःकामापुनस्त्वया ॥ ३८ ॥
निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद्यदृच्छया ।
निर्वृतिंपरमांप्राप्य नाद्यकामान्विचिन्तये ॥ ३९ ॥
अतिक्लेशान्सहामीह नाहंबुध्याम्यबुद्धिमान् ।
निकृतोधननाशेन शयेसर्वाङ्गविज्वरः ॥ ४० ॥

संसार में जिस के पास धन होता है उसे दस्यु (डांकू) मारते नाना प्रकारके दण्डोंसे क्लेशित करते और सदा डराते रहते हैं । मैं ने इस बात को बहुत काल में शोचते २ जान लिया है कि धन की चाहना ही दुःख है । हे काम ! तू जिस २ पदार्थ की ओर झुकता है उसी २ की कामना करने लगता वा उसी २ को पकड़ने लगता है इस लिये तू मूर्ख अज्ञानी असन्तोषी और पूर्ण न होने वाला अग्नि है न तू यह जानता है कि यह पदार्थ सुलभ है न जानता है कि दुर्लभ है । मैं जानता हूं कि तू पाताल के समान पूरा होने वाला नहीं है । मुझे तू दुःखों से युक्त करना चाहता है ? हे काम ! तू ठीक समझले कि अब आज से तू मुझ में प्रविष्ट नहीं हो सकता । वार २ धन का नाश होने से आज मैं अकस्मात् (इत्तिफ़ाकिया) वैराग्य को प्राप्त होकर तथा सांसारिक पदार्थों से निवृत्ति करके कामों की चिन्ता को छोड़ता हूं । मैंने काम के फन्दे में फंसकर अतिकष्टों को सहा परन्तु मूर्खतावश तब नहीं समझा कि-- तत्त्व क्या है । आज मैं धननाश से वैराग्यवान् होकर तथा सुख पूर्वक जिस के किसी शरीरांश में खेद नहीं रहा ऐसा होकर सोता हूं अर्थात् आनन्द में मग्न होता हूं ॥

ऐसा विचार प्रकट होना किसी साधारण का काम नहीं है किन्तु यह बड़े पुण्योदय का फल है । मङ्किनामक पुरुष का ब्राह्मण होना भी सिद्ध होता है । धनादि पदार्थों का नाश होना यदि किसी को ज्ञान वैराग्य का हेतु हो जावे तो मानना होगा कि उस के भीतर जन्मान्तरीय ज्ञान प्रसुप्त दशा में विद्यमान था जो कि उद्बोधक साधनोंको पाकर जाग उठा । जहां जिनका बीज नहीं वहां वर्षादि ऋतु में भी वह अन्न और घास नहीं उगती इसी प्रकार धनादि के नाश में ज्ञानाङ्कुर न होने से सब किसी को ज्ञान वैराग्य नहीं होता ॥

परित्यजामिकाम!त्वां हित्वासर्वमनोगतीः ।
नत्वंमयापुनःकाम ! वत्स्यसेनचरंस्यसे ॥ ४१ ॥
क्षमिष्येक्षिपमाणानां नहिंसिष्येविहिंसतः ।
द्वेष्ययुक्तःप्रियंवक्ष्या-म्यनादृत्यतदप्रियम् ॥ ४२ ॥
तृप्तःस्वस्थेन्द्रियोनित्यं यथालब्धेनवर्त्तयन् ॥
नसकामंकरिष्यामि त्वामहंशत्रुमात्मनः ।
निर्वेदंनिर्वृतिंतृप्तिं शान्तिंसत्यंदमंक्षमाम् ।
सर्वभूतदयांचैव विद्धिमांसमुपागतम् ॥ ४३ ॥

हे काम ! मैं आज सब मनोरथों के साथ ही तुझ को त्यागता हूं अब से तू न मेरे पास रहेगा न मेरे शरीर में रमेगा ही, मैं आक्षेप करते हुए जनों के ऊपर क्षमा करूंगा तथा मुझ को मारते हुए प्राणियों को मैं नहीं मारूंगा जब मुझ से द्वेष करने अर्थात् मेरे साथ शत्रुता रखने वाले मुझ से कटुवचन कहेंगे तब मैं उस गाली देने वा कोशने वाले के अप्रिय वचन पर ध्यान न देता हुआ उस से प्रियवचन बोलूंगा । अब से मैं जितेन्द्रिय और सन्तुष्ट होकर अकस्मात् विना मांगे प्राप्त हुए भोजनादि निर्वाह से करता हुआ हे काम ! अपने शत्रु तुझ को सकाम [तेरी इच्छा पूरी] नहीं करूंगा । हे काम ! तू जानले कि-मैं वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और सब प्राणियों पर दया को प्राप्त हो गया हूं ॥ ४१-४३ ॥

यहां सर्वत्र काम शब्द से हृदय में रहने वाली वासना लेनी हैं जिन को हृदय की ग्रन्थि वा हृदय के बन्धन भी कह सकते हैं जिस को (भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः) कठ में कहा है । स्त्री वा धन सम्बन्धी सुख भोग की जो अगाध तृष्णा सूक्ष्म वा स्थूल रूप से हृदय में ठहरी हुई है वह बड़ी दृढ़ पुष्ट गांठ है वही यहां काम वा संकल्प पदवाच्य है उस को हृदय से निकालने के लिये ऐसे ही प्रबल ज्ञान वैराग्य की आवश्यकता है जैसा मङ्कि को हुआ था ॥

तस्मात्कामञ्चलोभञ्च तृष्णांकार्पण्यमेवच ।
त्यजन्तुमांप्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थोह्यस्मिसाम्प्रतम् ॥ ४४ ॥
प्रहायकामंलोभंच सुखंप्राप्तोऽस्मिसाम्प्रतम् ।
नात्यलोभवशंप्राप्तो दुःखंप्राप्स्याम्यनात्मवान् ॥४५॥

यद्यत्त्यजति कामानां तत्सुखस्याभिपूर्यते ।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते ॥ ४६ ॥
कामानुबन्धं नुदते यत्किंचित्पुरुषो रजः ।
कामक्रोधोद्भवं दुःख-मह्रीररतिरेव च ॥ ४७ ॥

तिस कारण सत्त्व की ओर झुकते चञ्चलता छोड़ समाहित एकाग्र चित्त हुए मुझको काम, लोभ, तृष्णा और कृपणता दीनता तुच्छता छोड़ देवें क्योंकि अब मैं सत्त्वगुण में स्थित हूं। इस समय मैं काम लोभादि को छोड़कर सुख को प्राप्त हो गया हूं। अब से मैं (पूर्ववत् मूर्खतावश) अपने आपे से बाहर होकर लोभ को प्राप्त होता हुआ दुःख न पाऊंगा। कामों में से जो २ भाग छोड़ा जाता है वह २ सुख का कारण होता है और जो पुरुष काम के आधीन हो जाता है वह नित्य दुःख को ही प्राप्त होता है जो मनुष्य काम के अनुबन्ध-परिणाम वा कारण रजोगुण को हटा देता अपने से निकाल देता है वह काम क्रोध से होने वाले दुःख निर्लज्जता तथा ग्लानि को भी निवृत्त कर सकता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य स्वयं नहीं रहता ॥ ४४—४७ ॥

इन वाक्यों को जैसे आनन्द में मग्न होते हुए मङ्कि ने गाया (मङ्कि के गाने से ही मङ्कि गीता नाम पड़ा जानो) वैसे एकाग्रचित्त से हम लोग भी गावें तो हमारे संस्कारों के सुधरने में सहायता अवश्य मिले। जैसे बहुत मीठा न मिलने पर थोड़ा मीठा भी अच्छा ही लगता है किन्तु कड़ुआ नहीं लगता वैसे पूर्णज्ञान वैराग्य प्राप्त न होने पर थोड़े २ ज्ञान वैराग्य भी संसारके अनेक दुःखों से बचाते हैं अभिप्राय यह कि गृहाश्रम में पूर्ण ज्ञान वैराग्य तो हो नहीं सकता पर थोड़ा २ अभ्यास करता जाय तो बीच २ शान्ति सुख भी प्राप्त होता रहे और अन्त में प्रबल ज्ञान वैराग्य द्वारा उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है ॥

एष प्रमाणिष्टोऽहं शीतलेशीलमिवहृद्रम् ।
शाम्याम्यपरिनिर्वामि सुखमासेति केवलम् ॥ ४८ ॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ४९ ॥
आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम् ।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ॥ ५० ॥

मङ्कि कहते है कि जैसे ग्रीष्म ऋतु में जल का शीतगुण जलाशय के गहरे दह में नीचे घुस जाता है वैसे यह मैं ब्रह्मज्ञान में प्रविष्ट होता हूं। मैं इस समय शान्त हूं मुझमें लेशमात्र भी हिलचल नहीं रही मुझे केवल सुख ही प्राप्त हो रहा है। संसार में जो काम सुख और द्युलोक में जो स्वर्गीय बड़ा सुख माना जाता है ये दोनों सुख तृष्णाक्षयरूप सन्तोष सुखके सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं। मैं आशा करता हूं कि--पांच ज्ञानेन्द्रियों और छठे सर्वोपरि प्रबल शत्रु काम को सातवें अपने शरीरके सहित त्यागके अविनाशी ब्रह्मपुर नामक मोक्षपद को प्राप्त होकर राजा के समान सुखी होऊंगा ॥४८--५०

भीष्मउवाच॥

एतांबुद्धिंसमास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः।
सर्वान्कामान्परित्यज्य प्राप्यब्राह्मंमहत्सुखम् ॥ ५१ ॥
दम्यनाशकृतेमङ्कि--रमृतत्वंकिलागमत्।
अच्छिनत्काममूलंस तेनप्रापमहत्सुखम् ॥ ५२ ॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिर जी से कहते हैं कि हे राजन्! मङ्कि इस उक्त प्रकारक निश्चयात्मक बुद्धिको स्थिर करके वैराग्यको प्राप्त हो गये। वह मङ्कि सब कामोंको छोड़ कर बड़े सुख वाले ब्रह्मपदको प्राप्त हुए। कैसे आश्चर्यका स्थान है कि दो बछड़ों का नाश हो जाने के कारण मङ्कि मुक्ति दशा को प्राप्त हो गये और उन मङ्कि ने काम के मूल--संकल्प को काट दिया उसी से महत्सुख को प्राप्त हुए ॥ ५१--५२ ॥

यहां अनिष्ट से इष्ट सुख की प्राप्ति दिखाई गयी है। अनिष्ट नाम दुःख ही सब दशा वा काल में सुख का साधक है ॥

इति शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मङ्किगीतायाम्--१७७ तमोऽध्यायः ॥

अथ बोध्यगीता ॥

भीष्मउवाच--अत्राप्युदाहरन्तीम-मितिहासंपुरातनम् ।
गीतंविदेहराजेन जनकेनप्रशाम्यता ॥ १ ॥
अनन्तंवतमेवित्तं यस्यमेनास्तिंकिंचन ।
मिथिलायांप्रदीप्तायां नमेदह्यतिकिंचन ॥ २ ॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिर जी से कहते हैं कि हे राजन् ! इस (वैराग्य) विषय में ऐतिहासिक लोग एक और पुराना इतिहास कहते हैं कि जिस को शान्त होते हुए विदेह देश के राजा जनक ने गाया था--अहो ? मेरे यहां अनन्त धनादि पदार्थ होने पर भी मेरा कुछ नहीं है । मिथिलानगरी के भस्मसात् होजाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता ॥

भीष्मउवाच--अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्यपदसञ्चयम् ।
निर्वेदंप्रतिविन्यस्तं तन्निबोधयुधिष्ठिर ! ॥ ३ ॥
बोध्यंशान्तमृषिंराजा नहुषःपर्य्यपृच्छत ।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम् ॥ ४ ॥
उपदेशंमहाप्राज्ञ ! शमस्योपदिशस्वमे ।
कांबुद्धिंसमनुध्याय शान्तश्चरसिनिर्वृतः ॥ ५ ॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिर जी से फिर कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! बोध्य-ऋषि का शान्ति विषयक इतिहास इसी (वैराग्य) विषय में कहा जाता है उन को वैराग्य से शान्ति हुई थी उस को तुम समझो । जैसे--एक समय कभी नहुष नामक राजा ने वैराग्य से शान्ति को प्राप्त शास्त्र ज्ञान से तृप्त स्वरूपावस्थित बोध्य ऋषि से पूछा कि हे ऋषे आप कौन सी बुद्धि को स्थिर करके सुख पूर्वक दिन व्यतीत करते हो ? उसे मुझे बतलाओ और मुझे शान्तिका उपदेश करो ३-५

बोध्यउवाच- उपदेशेनवर्त्तामि नानुशास्मीहकञ्चन ।
लक्षणंतस्यवक्ष्येऽहंतत्स्वयंपरिमृश्यताम् ॥ ६ ॥
पिङ्गलाकुररःसर्पः सारङ्गान्वेषणंवने ।
इषुकारःकुमारीच षडेतेगुरवोमम ॥ ७ ॥

बोध्यऋषि ने नहुष राजा को उत्तर दिया कि हे राजन् ! मैं प्राणियोंके कार्य को देख कर उपदेश लेता हूं परन्तु मैं किसी को उपदेश नहीं देता पर तुम से उपदेश का लक्षण कहता हूं उसे तुम स्वयम् विचारो। शान्ति प्राप्त करने में मेरे–पिङ्गला, कुरर, सांप, वन में सारङ्गपक्षी, इषुकार, कुमारी ये छः गुरु हैं ६–७

अर्थात् मनुष्यको संसारमें से शिक्षा लेने की बुद्धि हो जावे तो वह एक २ पग में सब जड़ चेतन पदार्थों से तथा सब कामोंसे कुछ न कुछ शिक्षा ले सकता है यह शिक्षा बड़ी पुष्ट कार्यसाधक होती है जिस को स्वयं खोज २ ग्रहण करता है उस को शीघ्र त्यागता नहीं उस का संस्कार प्रबल दृढ़ होता है वैसा संस्कार साधारण विचार से सुने उपदेश का नहीं होता ॥

भीष्मउवाच—आशाबलवतीराजन्! नैराश्यंपरमंसुखम्।
आशांनिराशांकृत्वाहि सुखंस्वपितिपिङ्गला ॥ ८॥

भीष्म जी ऊपर कहे छः गुरुओं का क्रमशः व्याख्यान करते हैं कि हे राजन् ! आशा बड़ी बलवती और दुःख को देने वाली है इसी से आशाका त्याग करना परम सुखकारी है क्योंकि पिङ्गला वेश्या आशा का त्याग करके सुख पूर्वक रही सोई अर्थात् आशा को त्याग के ज्ञान वैराग्य तथा ईश्वर भक्ति में तत्पर होके अनन्त शान्ति सुख को प्राप्त हुई ॥ ८ ॥

सामिषंकुररंदृष्ट्वा वध्यमानंनिरामिषैः।
आमिषस्यपरित्यागात् कुररःसुखमेधते ॥ ९ ॥

मांस वा सामान्य भोग्य कोई वस्तु कुरर नामक पक्षी के पास था उस के कारण उसपक्षी को जिन के पास भोजन का पदार्थ न था उन पक्षियों ने मारा तङ्ग किया जब उस कुरर ने भोग्य वस्तु उठा कर फेंक दिया अर्थात् त्याग दिया तब किसी ने तङ्ग न किया किन्तु सुखी हो गया सब व्याधियां मिट गईं। प्रयोजन यह कि जिस के निकट अच्छे उत्तम २ धनादि भोग हैं उसी को चोर, डांकू, भिक्षुक तथा दाय भागी आदि अनेक लोग भोगों को लेने के लिये घेरते नोंचते खसोटते तङ्ग करते हैं और त्यागी विरक्त के समीप भोगार्थी कोई भी नहीं जाता जैसे जल वाले तालाव पर सैकड़ों जीव आ घेरते हैं सूख जाने पर कोई नहीं जाता है ॥ ९ ॥

गृहारम्भोहिदुःखाय नसुखायकदाचन ।
सर्पःपरकृतंवेश्म प्रविश्यसुखमेधते ॥ १० ॥

घर का बनाना दुःख के लिये ही होता है उस से सुख कदापि नहीं मिलता देखो सर्प दूसरे के बनाये हुए घर में घुस कर सुख पाता है ॥ १० ॥

घर बनाने में नानाप्रकार का कष्ट उठाने पड़ेगा इसी से उस में अनुराग भी अधिक होगा यही बन्धन का कारण है उस घर को छोड़ना कदापि न चाहेगा पर छोड़ने पड़ैहीगा और अपने बनाये घर में निवास का सुख उतना ही है जितना अन्य के में होगा । अपने में दुःखमात्र ही अधिक है। सर्प घर नहीं बनाता पर घर के विना उसे कोई दुःख नहीं है ॥

सुखंजीवन्तिमुनयो भैक्ष्यवृत्तिंसमाश्रिताः ।
अद्रोहेणैवभूतानां सारङ्गाइवपक्षिणः ॥ ११ ॥

चातक पक्षियों की भांति किसी प्राणी से द्रोह न रखते हुए तथा भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते हुए मुनि लोग सुख से जीते हैं ॥ ११ ॥

जो किसी प्राणी को लेशमात्र भी कष्ट न पहुंचाता हुआ अपना निर्वाह करता है वह सुखी है यह शिक्षा सारङ्ग पक्षी से लेनी चाहिये ॥

इषुकारोनरःकश्चि-दिषावासक्तमानसः ।
समीपेनापिगच्छन्तं राजानंनावबुद्धवान् ॥ १२ ॥

कोई बाणों को बनाने वाला बाण के बनाने में एकाग्रचित्त था इसी से पास में होकर जाते हुए राजा को भी वह न जान सका कि राजा मेरे पास से निकला वा नहीं ॥ १२ ॥

चित्त को एकाग्र करने की शिक्षा वा उपदेश इषुकार से योग्य ने लिया चित्त की ऐसी एकाग्रता ही समाधिस्थ होने का पूर्वरूप होती है ॥

बहूनांकलहोनित्यं द्वयोःसंकथनंध्रुवम् ।
एकाकीविचरिष्यामिकुमारीशङ्खकोयथा ॥ १३ ॥

बहुतों के समुदाय में नित्य कलह होता और दो के इकट्ठे होने में भी निश्चित वाद विवाद वा वार्त्तालाप होता ही है इस लिये मैं कुमारी की चूड़ी के तुल्य

।* पिङ्गला यह बोध्यऋषिने कुमारी के गुरु बनाने में कारण बतलाया॥१३॥

संयोग ही दुःख का हेतु वा कारण है । जो पुरुष विवेकी हो के दुःखों से बचना चाहे निर्द्वन्द्व अकेला रहना पसन्द करे तो एक साथ ही सहस्रों विपत्तियां भाग जाती हैं ॥

---

* किसी गृहस्थ के घर पर कोई अतिथि आया उस की बुद्धिमती कन्या धान कूट कर चावल निकालने लगी । उस की सब चूड़ियां बजने लगीं तब कन्या ने सोचा कि अतिथि को चूड़ियों की ध्वनि से हमारी निर्धनता ज्ञात हो जावेगी, इस से उसने सौभाग्य चिन्ह होने के कारण सब तो नहीं किन्तु एक २ हाथ में दो २ चूड़ियां छोड़दीं और सब उतार लीं ऐसा करने पर भी वे दोनों चूड़ियां आपस में बजने लगीं, तब कन्या ने एक २ और उतार ली फिर वह एक २ नहीं बजी इसी से बोध्यऋषि ने उपदेश लिया था ॥

इतिशान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बोध्यगीतायां १७८ तमोऽध्यायः ॥



अथ पिङ्गलागीता ॥

युधिष्ठिरउवाच—धर्माःपितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताःशुभाः
धर्ममाश्रमिणांश्रेष्ठ ! वक्तुमर्हसिपार्थिव ! ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर जी महाराज भीष्म जी से कहते हैं कि—हे श्रेष्ठ ! राजन् ! हमारे पितामह ! आपने राजधर्म से लगाव रखने वाले धर्म कहे, अब कृपाकर आश्रमियों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी) के धर्मोंकोकहिये ।

भीष्मउवाच—सर्वत्राविहितोधर्मः सत्यंप्रेत्यतपःफलम् ।
बहुद्वारस्यधर्मस्य नेहास्तिविफलाक्रिया ॥ २ ॥
यस्मिन्यस्मिंस्तुविषये योयोयातिविनिश्चयम् ।
सतमेवाभिजानाति नान्यंभरतसत्तम ! ॥ ३ ॥
यथायथाचपर्य्येति लोकतन्त्रमसारवत् ।
तथातथाविरागोऽत्र जायतेनात्रसंशयः ॥ ४ ॥
एवंव्यवसितेलोके बहुदोषेयुधिष्ठिर ! ।
आत्ममोक्षनिमित्तंवै यतेतमतिमान्नरः ॥ ५ ॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिर जी से कहते हैं कि—हे भरत कुलोत्पन्नों में श्रेष्ठ! युधिष्ठिर ! धर्म अनेक स्थलों में अनेक रूपों से कहा गया है जैसे--सत्य, परलोक में सुखदायी, तपस्या और अग्निहोत्रादि यज्ञ इत्यादि प्रकार के धर्म की क्रिया निष्फल नहीं होती। हे युधिष्ठिर ! जो २ पुरुष जिस २ विषय का निश्चय कर लेता है वह २ उसी २ विषय को जानता वा जान सकता है अन्य को नहीं । संसार में मनुष्य जैसे २—लौकिक कार्य्यों वा व्यवहारों को असार जानता है वैसे २ उस को उन २ पदार्थों में वैराग्य हो जाता है। हे युधिष्ठिर ! इस प्रकार बहुत दोष वाले संसार की वास्तविकता जान लेनेपर बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने मोक्ष के लिये प्रयत्न करे ॥२--५॥

युधिष्ठिरउवाच-नष्टेधनेवादारेवा पुत्रेपितरिवामृते ।
यथाबुद्ध्यानुदेच्छोकं तन्मेब्रूहिपितामह ! ॥६॥

राजा युधिष्ठिर जी भीष्म जी से पूछते हैं कि—हे पितामह ! धन, और स्त्री के नष्ट हो जाने पर तथा पिता वा पुत्र के मर जाने पर जिस उपाय से बुद्धिपूर्वक मनुष्य शोक को नष्ट कर देवे उस उपाय को मुझ से कहिये ॥ ६ ॥

भीष्मउवाच–नष्टेधनेवादारेवा पुत्रेपितरिवामृते ।
अहोदुःखमितिध्यायन् शोकस्यापचितिंचरेत् ॥ ७ ॥

भीष्म जी कहते हैं कि–धन और स्त्री के नष्ट हो जाने पर तथा पिता वा पुत्र के मरजाने पर मनुष्य "ओहो !!! संसार में दुःख ही दुःख है" ऐसा ध्यान करता हुआ शोक का प्रतीकार करे ॥ ७ ॥

अर्थात्–संसार में सब दुःख ही दुःख है किन्तु लेशमात्र कभी २ बीच २ सुख भी मिला, तो क्या हुआ ? जैसे कि अधिक दरिद्र–निर्धन को कभी २ दो चार आने पैसे मिलें भी तो वह धनी नहीं होता वैसे मैं सुखी हो ही नहीं सकूंगा ऐसे विचार से सुखाशा छोड़ने पर शोक मिटता उदासीनता आती है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीम–मितिहासंपुरातनम् ।
यथासेनजितंविप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत्सुहृद् ॥ ८ ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्तं राजानंशोकविह्वलम् ।
विषण्णमनसंदृष्ट्वा विप्रोवचनमब्रवीत् ॥९॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं कि–इस उक्त विषयमें (वृद्धजन) इस पुराने इतिहास को कहते हैं । जैसे किसी ब्राह्मण ने राजा सेनजित् के पास आकर कहा था अर्थात् कोई सुहृद् ब्राह्मण राजा सेनजितको शोक से विह्वल पुत्र शोकयुक्त और उदासीन देखकर बोला ॥ ८–९ ॥

विप्रउवाच–किन्नुखल्वसमूढस्त्वं शोच्यःकिमनुशोचसि ।
यदात्वामपिशोचन्तः शोचयायास्यन्तितांगतिम् ॥ १० ॥
त्वंचैवाहंचयेचान्ये त्वामुपासन्तिपार्थिव ! ।
सर्वेतत्रगमिष्यामो यतएवागतावयम् ॥ ११ ॥

वह ब्राह्मण राजा सेनजित्से बोला कि–हे मूढ ! मनुष्यपनसे तू क्यों च्युत होता है तू स्वयम् ही शोचनीय होकर पुत्र का क्यों शोक करता है ? । निश्चित समझ ले कि जिसका तू शोक करता है उस का तो कहना ही क्या किन्तु तू और तेरा भी शोक करने वाले उसी दशाको प्राप्त होंगे जिस को तेरा पुत्र गया है । हे राजन् ! तुम मैं और जो तुम्हारे पास बैठे हैं ये सब वहीं जावेंगे कि जहां से आये हैं ॥ १०–११ ॥

यदि मनुष्यको यह निश्चय ज्ञात होजाय वा ऐसे विचारोंका जिसे विस्मरण न हो जिस के मन में संसार की अनित्यता का विचार सदा बना रहे कि आज मेरे प्रिय पुत्रादि का जैसे मुझ से वियोग हुआ कल मेरा भी इन अन्य मेरे साथ प्रेम रखने वालों से वियोग होगा । तदनन्तर शेष रहे इन सब का भी एक २ दिन क्रमशः परस्पर वियोग होगा तो उस का शोक शान्त हो सकता है ॥

सेनजिदुवाच-काबुद्धिःकिंतपोविप्र ! कःसमाधिस्तपोधन ! ।
किंज्ञानंकिंश्रुतंचैव यत्प्राप्यनविषीदसि ॥ १२ ॥

राजा सेनजित् बोला कि-हे तपोधन ! ब्राह्मण ! तुम्हारी बुद्धि, तपस्या, समाधि, (योग) ज्ञान और वेदादि का अध्ययन कैसा वा किस प्रकार का है ? कि जिस को प्राप्त होकर तुम दुःखित नहीं होते ॥ १२ ॥

ब्राह्मण उवाच-पश्यभूतानिदुःखेन व्यतिषक्तानिसर्वशः ।
उत्तमाधममध्यानि तेषुतेष्विहकर्मसु ॥१३॥
आत्मापिचायंनमम सर्वावापृथिवीमम ।
यथाममतथान्येषा-मितिचिन्त्यनमेव्यथा ॥ १४ ॥
एतांबुद्धिमहंप्राप्य नप्रहृष्येनचव्यथे ॥ १५ ॥

ब्राह्मण बोला कि हे सेनजित ! तुम उत्तम, मध्यम और निकृष्ट सब प्राणियों को उत्तम, मध्यम और निकृष्ट दुःखों में फंसा हुआ देखो । मैं जानता हूं कि यह मेरा शरीर भी मेरा नहीं है अथवा जैसे सब पृथिवीके पार्थिव पदार्थ मेरे हैं वैसे अन्यों के भी हैं । ऐसा विचार रखने पर मुझे व्यथा दुःख नहीं होता । इस उक्त निश्चयात्मक बुद्धिको प्राप्त होकर मुझे हर्ष शोक दोनों ही नहीं होते ॥ १३-१५ ॥

सभी प्राणियों के शरीर पृथिवी तत्त्वसे बने हैं और अन्तमें उसीमें मिल जाते हैं । जो राजा पृथिवीको अपनी मानता है वह भी अपने चलने फिरने आदि काम पृथिवी से वैसे ही लेता है कि जैसे अन्य वे लोग जिन को पृथिवी हमारी है ऐसा अभिमान नहीं है वे भी चलना फिरना आदि व्यवहार करते हैं ऐसा बोध किसी एक भी पदार्थ के साथ हो तो शोक से बच सकता है ॥

यथाकाष्ठंचकाष्ठंच समेयातांमहोदधौ ।
समेत्यचव्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ १६ ॥

एवंपुत्राश्चपौत्राश्च ज्ञातयोबान्धवास्तथा
तेषांस्नेहोनकर्त्तव्यो विप्रयोगोध्रुवोहितैः॥ १७॥

ब्राह्मण राजा से कहता है कि जैसे समुद्र वा किसी बड़ी नदी में लहरों की झकोरों से दो लकड़ी बहती २ परस्पर मिल जावें और मिल कर फिर लहरों की झकोरों से पृथक् २ हो जावें उसी प्रकार सब प्राणियों का मिलना और पृथक् होना है। इस उक्त वचन के अनुसार ही-पुत्र, पौत्र, कुटुम्बी और भाई आदि का संयोग वियोग होता है इस से इन का स्नेह नहीं करना चाहिये क्योंकि इन सकों के साथ वियोग होना भी निश्चित-स्थिर है॥

इस संसाररूप अनन्त जलाशय में प्राणधारी इधर उधर बहते चले जा रहे हैं उन में से किसी समय में कोई किसी पुत्रादि के साथ किसी अपने और उस के कर्मानुसार कर्मफलभोग के लिये किसी सम्बन्ध से आमिला, पीछे थोड़े काल में वही वा जिस पिता आदि से आके मिला वह पिता आदि वहां से चल दिया वा अन्यत्र वहगया तो शोच क्या?॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनङ्गतः।
नत्वसौवेदनत्वन्तं कःसन्कमनुशोचसि॥ १८॥

वह ब्राह्मण राजासे फिर कहता है कि—जिस को तुम अपना पुत्र मानते थे वह न जाने कहां से आया था और कहां को चला गया। न तो वह तुम्हें जानता है और न तुम उसे जानते हो फिर बतलाओ कि तुम उस के कौन होते हुए उस (किस) का शोक करते हो?॥ १८॥

पुत्रादि किस को मानें? स्थूल शरीर को मानें तो वह खाये पिये अन्नादि पदार्थों का परिणाम रसादि होता हुआ मांस रुधिरादि का पिण्ड पृथिव्यादि तत्त्वों से बन गया था, वह उन २ तत्त्वों में मिल गया उस में तुम्हारा कुछ नहीं था। रहा आत्मा सो न वह किसी का पुत्र न पिता न वह स्त्री न पुरुष है केवल तुमने मान लिया था इसी लिये दुःख हुआ॥

तृष्णार्त्तिप्रभवंदुःखं दुःखार्त्तिप्रभवंसुखम्।
सुखात्संजायतेदुःखं दुःखमेवपुनःपुनः॥ १९॥
सुखस्यानन्तरंदुःखं दुःखस्यानन्तरंसुखम्।
सुखदुःखेमनुष्याणां चक्रवत्परिवर्त्ततः॥ २०॥
सुखात्त्वंदुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसेसुखम्।

ननित्यंलभतेदुःखं ननित्यंलभतेसुखम् ॥
शरीरमेवायतनं दुःखस्यचसुखस्यच ॥ २१ ॥
शरीरमेवायतनंसुखस्य दुःखस्यचाप्यायतनंशरीरम् ।
यद्यच्छरीरेणकरोतिकर्म तेनैवदेहीसमुपाश्नुतेतत् ॥२२॥
जीवितंचशरीरेण जात्यैवसहजायते ।
उभेसहनिवर्त्तेते उभेसहविनश्यतः ॥ २३ ॥
स्नेहपाशैर्बहुविधै-राविष्टविषयाजनाः ।
अकृतार्थाश्चसीदन्ते जलेसैकतसेतवः ॥ २४ ॥
स्नेहेनतिलवत्सर्वं सर्गचक्रेनिपीड्यते ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥ २५ ॥

ब्राह्मण राजा सेनजित से कहता है कि-तृष्णा (चाह) और दीनता से दुःख उत्पन्न होता है तथा दुःख और दीनता से सुख उत्पन्न होता है और सुख से दुःख उत्पन्न होता है इस से बार २ दुःख ही दुःख आता है। दुःख के पश्चात् सुख और सुख के पश्चात् दुःख अर्थात् मनुष्यों के सुख और दुःख गाड़ी के पहिये की भांति घूम-२ कर आते और जाते हैं। हे राजन्! तुम सुख से दुःख को प्राप्त हुए हो तथा इस दुःख से सुख को फिर प्राप्त होओगे। मनुष्य न तो नित्य दुःख ही पाता है और न नित्य सुख ही पाता है। शरीर ही सुख और दुःखका स्थान है। मनुष्यादि जिस २ कर्मको जिस शरीर से करता है उस २ के फल को उसी शरीर से भोगता है। जन्म के साथ ही जीवन नियत होता है अर्थात् शरीर का जन्म और उस का जीवन-आयु साथ ही बनते और साथ ही नष्ट होते हैं। बहुत प्रकार के प्रीति के बन्धनों से युक्त मनुष्य इष्टसुख को प्राप्त न होकर इस प्रकार दुःख पाते और गिरते पड़ते हैं कि जैसे बालू-रेते का पुल पानी में गिरता पड़ता है। इस संसार रूपी चक्र में सब प्राणी इस प्रकार अविद्याजन्य राग वा स्नेह से पीड़ित किये जाते हैं जैसे तेल के लिये तेली कोलू में तिलों को डाल कर दबावे पीसे-पेले ॥ १९-२५ ॥

जैसे मक्खी वा चींटी आदि जन्तु राग नाम पकड़ने वा लग लिपट जाने की शक्ति होने से ही मधु-शहद के पास जाते ही फंस जाते वा उस में पकड़ जाते हैं और पीछे निकलना चाहें तो भी निकल नहीं पाते किन्तु

क्खी प्रियतम विषय में फंसे कट कटा २ कर मर जाते हैं। पर सूखी नही या बालू में मक्खी आदि कभी नहीं फंसते। यही दशा मनुष्यों की विषयों में फंसने की जानो अर्थात् मनुष्यों के मन में जो सूक्ष्म वासना रूप विषयानुराग है वही तिलों में चिकनाई के तुल्य स्नेह है। जैसे चिकनाई होने से ही तिल कोल्हू में पीड़ित किये जाते हैं वैसे ही विषयानुराग के कारण ही मनुष्य संसार रूप कोल्हू में पीड़ित किया जाता है॥

संचिनोत्यशुभंकर्म कलत्रापेक्षयानरः।
एकःक्लेशानवाप्नोति परत्रेहचमानवः॥ २६॥
पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताःसर्वमानवाः।
शोकपङ्कार्णवेमग्ना जीर्णावनगजाइव॥ २७॥
पुत्रनाशेवित्तनाशे ज्ञातिसम्बन्धिनामपि।
प्राप्यतेसुमहद्दुःखं दावाग्निप्रतिमंविभो!॥ २८॥

ब्राह्मण राजा से कहता है कि-हे राजन्! मनुष्य स्त्री आदि के कारण अशुभ कर्मों को करता है परन्तु वह करने वाला अकेला ही इस लोक और परलोक में अपने किये पाप के फल दुःख को प्राप्त होता है। पुत्र, स्त्री और कुटुम्बों में सब मनुष्य इस प्रकार फंसे हुए हैं जैसे बनैले बुड्ढे हाथी कीच के दलदल में फंस जावें। वे फंसे हुए पुरुष धन, पुत्र, भाई-कुटुम्बी और सम्बन्धियों के नाश होने पर बन में लगे अग्नि से होने वाले दुःख के समान तीव्र दुःख को प्राप्त होते हैं॥ २६-२८॥

कोई पुरुष, स्त्री वा पुत्रादि को खिला पहना के अच्छे रखने के लिये यदि चोरी करे तो चोरी का अपराधी वही एक होगा किन्तु स्त्री आदि नहीं। धन, स्त्री तथा पुत्रादि में जो मनुष्यों को अधिक स्नेह वा राग है वही उन के वियोग में महादुःख भुगाने वाला है इसी कारण अन्य के धनादि में राग नहीं होने से उस के नाश में अन्य को दुःख नहीं होता। जैसे दल दल में फंसे असमर्थ वृद्ध हाथी का दल दल से मुक्त हो सकना असंभव है, वैसे ही पुत्रादि के मोह में फंसे मनुष्यों का मोह रूप दलदल से निकल सकना असम्भव है। एक भगवद्भक्ति से ही मनुष्य पार हो सकता है।

दैवायत्तमिदंसर्वं सुखदुःखेभवाभवौ॥ २९॥
असुहृत्ससुहृच्चापि सशत्रुर्मित्रवानपि।

सप्रज्ञः प्रज्ञयाहीनो दैवेनलभतेसुखम् ॥ ३० ॥
नालंसुखायसुहृदो नालंदुःखायशत्रवः ।
नचप्रज्ञालमर्थानां नसुखानामलंधनम् ॥ ३१ ॥
नबुद्धिर्धनलाभाय नजाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्य्यायवृत्तान्तं प्राज्ञोजानातिनेतरः ॥ ३२ ॥
बुद्धिमन्तंचशूरंच मूढंभीरुंजडंकविम् ।
दुर्बलंबलवन्तंच भागिनंभजतेसुखम् ॥ ३३ ॥

सुख, दुःख, जन्म, मरण, उन्नति, अवनति, ये सब के सब दैव [प्रारब्ध] के आधीन हैं। जिस के कोई प्यारा नहीं है जिस के बहुत से प्यारे हैं, जिस के शत्रु विद्यमान हैं, जिस के अनेक मित्र उपस्थित हैं, जो बुद्धिमान् है और जो बुद्धि रहित है ये सब के सब प्रारब्ध से ही सुख वा दुःख पाते हैं। क्योंकि मित्र भी प्रारब्धहीन को सुख पहुंचाने और शत्रु भी प्रारब्धवान् को दुःख देने में असमर्थ होते हैं तथा बुद्धि धन की प्राप्ति में और धन सुख देने में पर्य्याप्त (काफ़ी) नहीं हैं। बुद्धि धनलाभ के लिये और जड़ता धन विनाश के लिये उपयोगी नहीं है। लोक में स्वभाव से ही परिवर्तन होने से पारापारी सुख दुःख धन वा निर्धनतादि के आवागमन सम्बन्धी मर्म को पण्डित ही समझ सकता है अन्य नहीं। बुद्धिमान्, शूर, मूढ, भीरु, जड़, कवि, दुर्बल, बलवान् कोई क्यों न हो भाग्यवान् होना चाहिये उसी को सुख मिलता है ॥ २९—३३ ॥

संसार में अपनी २ शक्ति भर दिन रात तन मन से लगातार धन प्राप्ति के लिये तथा सुख भोग के लिये प्रायः सभी मनुष्य उपाय कर रहे हैं परन्तु पूर्ण वा यथोचित सुख वा धन उपाय करने वालों में से बहुत थोड़ों को मिलता दीखता है इस में पूर्व संचित प्रारब्ध से भिन्न अन्य कोई कारण नहीं ठहर सकता। इस कारण मनुष्य संतोष करे यही सार है परन्तु संतोष का अभिप्राय यह नहीं है कि वह उद्योग न करे किन्तु सांसारिक उन्नति वा अभ्युदय सुख चाहने वालों को बड़े २ कर्म अवश्य करने चाहिये देशोन्नति के काम करते हुए जो कुछ फल होता जाय उस में संतुष्ट रहते हुए निरन्तर कर्म किया करें ॥

धेनुर्वत्सस्यगोपस्य स्वामिनस्तस्करस्यच ।
पयःपिबतियस्तस्या धेनुस्तस्येतिनिश्चयः ॥ ३४ ॥

दुधारी गौ–बछड़ा, ग्वालिया, स्वामी और चोर इन सबकी है अर्थात् जो उसका दुग्ध पीता है उसीकी वह दुधारी गौ है यह निश्चित सिद्धान्त है ॥३४॥

प्रयोजन यह है कि कौन पदार्थ किस का है इस की व्यवस्था यह मानें कि जिस से जिस की कुछ सुख न मिले वह भी उस का हो तो धनियों का धन निर्धनोंका भी हो सकता है, पर ऐसा नहीं है इससे यही सिद्धान्त ठीक है कि जब २ जिस २ से जिस २ को सुख मिले तब २ वह २ गौ, घोड़ा, धन, घर, तथा पुत्रादि उस २ का है ॥

येचमूढतमालोके येचबुद्धेःपरङ्गताः ।
तेनराःसुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितोजनः ॥ ३५ ॥

संसार में जो पुरुष अत्यन्त मूढ़ हैं तथा जो मनुष्य बुद्धि के पार पहुंच गये हैं वे ही सुखी हैं बीच का (अधकचरा) मनुष्य दुःख पाता है ॥ ३५ ॥

सत्त्वगुण में सुख रजोगुणमें दुःख और तमोगुणमें मोह प्रधान है। रजोगुणी पुरुष बीच में पड़े बीच धार में गोते खाने वालों के समान दुःख भोगा करते हैं। मूढदशा में रहने से ही छोटे २ खाते खेलते हुए बच्चों का समय अच्छे आनन्द में कटता है चिन्ता कुछ नहीं होती। पर ज्ञानी लोग भी ऐसे ही बालकों के समान ज्ञान में मग्न रहते हैं ॥

अन्त्येषुरेमिरेधीरा नतेमध्येषुरेमिरे ।
अन्त्यप्राप्तिंसुखामाहु–र्दुःखमन्तरमन्त्ययोः ॥ ३६ ॥
येचबुद्धिसुखंप्राप्ता द्वन्द्वातीताविमत्सराः ।
तान्नैवार्थानचानर्था व्यथयन्तिकदाचन ॥ ३७ ॥
अथयेबुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्चमूढताम् ।
तेऽतिवेलंप्रहृष्यन्ति सन्तापमुपयान्तिच ॥ ३८ ॥
नित्यंप्रमुदितामूढा दिविदेवगणाइव ।
अवलेपेनमहता परिभूत्याविचेतसः ॥ ३९ ॥

धीर धर्मात्मा पुरुष परमार्थसम्बन्धी कार्यों के करने में रमण करते हुए प्रसन्न रहते हैं। किन्तु वे लोग संसार-सम्बन्धी कामसुखभोगादि बीचके कार्यों में आसक्त नहीं होते क्योंकि परमार्थ-मोक्ष प्राप्तिका सुख अनिर्वाच्य है उसी को ज्ञानी लोग सुख कहते हैं और संसारका सुख भी वास्तव में दुःख ही है। जो पुरुष ज्ञानदशा के सुखको प्राप्त हो कर हर्ष, शोक, मद, ईर्षादि से रहित हैं उन को हानि, लाभ, दुःख सुख आदि नहीं घेरते (सताते) हैं। जो पुरुष बुद्धिको तो प्राप्त हुए नहीं परन्तु मूढता से पृथक् हो गये हैं उन्हींको हर्ष और शोक अधिकता से घेरते हैं। मूढ पुरुष संसार में बड़े अभिमान और अविद्या के आपेसे बाहर हो कर सदा इस प्रकार प्रसन्न रहते हैं जैसे स्वर्ग में देवगण प्रसन्न रहें ॥ ३६—३९ ॥

संसार में विचारशील पण्डित वा बुद्धिमान् वे ही हैं जो बीचके भोगोंमें नहीं फंसते किन्तु काम क्रोध लोभ सम्बन्धी बीच के भोगोंसे उदासीन होकर परमार्थके विचारोंमें मग्न रहते हैं। और इनसे भिन्न पण्डित कहाते हुए भी सब मूर्ख हैं। उक्त पं० को संसारके दुःख भी नहीं व्याप्त होते। इसलिये जो दुःख वा बड़ी २ विपत्तियोंसे बचना चाहें उनको मद, अहङ्कार, राग, द्वेषादि के त्यागार्थ बड़ा प्रबल उपाय बड़े वेग से करना चाहिये। रागादि शत्रुओंके फन्दसे साधारण उपाय करने वाला कोई भी बच नहीं सकता। ईश्वरका ज्ञान भक्ति, पूजा उपासना, अर्थात् बार २ स्मरण तथा शरणागति ही सब से बड़ा उपाय है इस उपाय के विना कोई भी पार नहीं हो सकता।

सुखंदुःखान्तमालस्यं दुःखंदाक्ष्यंसुखोदयम् ।
भूतिस्त्वेवंश्रियासार्द्धं दक्षेवसतिनालसे ॥ ४० ॥
सुखंवायदिवादुःखं प्रियंवायदिवाप्रियम् ।
प्राप्तंप्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ ४१ ॥
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानिच ।
दिवसेदिवसेमूढ-माविशन्तिनपण्डितम् ॥ ४२ ॥
बुद्धिमन्तंकृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् ।
दान्तंजितेन्द्रियंचापि शोकोनस्पृशतेनरम् ॥ ४३ ॥
एतांबुद्धिंसमास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद्बुधः ।

उदयास्तमयज्ञंहि नशोकःस्प्रष्टुमर्हति ॥ ४४ ॥
यन्निमित्तोभवेच्छोक-स्तापोवादुःखमेवच ।
आयासोवायतोमूल-मेकाङ्गमपितत्त्यजेत् ॥ ४५ ॥

सुख दुःख को मेट देता है तथा आलस्य दुःखको उत्पन्न करता है और दक्षता=चतुराईसे सुखका उदय होता है इसी प्रकार दक्ष पुरुष में लक्ष्मी के साथ विभव बसता है आलसी मनुष्यमें नहीं। सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय, कोई क्यों न हो बुद्धिमान् को चाहिये कि सुख दुःख में लिप्त होकर पराजित न होता हुआ हृदय से धैर्य्यवान् होकर उस को झेले भोगे । शोक के सहस्रों स्थान तथा भयके सैकड़ों स्थान प्रतिदिन मूढ़ पुरुषको ही घेरते हैं किन्तु पण्डितको नहीं । बुद्धिमान्, कृतबुद्धि, शास्त्र पढ़नेके स्वभाव वाले अनिन्दक, मन के वेगको रोकने वाले और जितेन्द्रिय पुरुषको शोक नहीं सताता । इस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष चित्तको सावधान करके उदय और अस्तको जानता हुआ शोकको छोड़ देता है । जिस कारणसे शोक ताप दुःख और आयास खेद उत्पन्न हुआ हो उस एक अङ्गको ही छोड़ देना चाहिये ॥ ४०-४५॥

जो हर्ष शोकमें घबराता नहीं उसको दुःख भी अधिक नहीं व्यापता वा दुःख ही नहीं होता यह भी कह सकते हैं । जिसको शोक न दबा सके वह पण्डित और शोकमें डूबजाने वाला ही मूर्ख वा अन्वर्थ शूद्र है [शोकेन द्रवतीति शूद्रः] शास्त्र पढ़ा होने पर भी शोकातुर हो जाने वाला पण्डित नहीं कहावेगा यही इनका लक्षण है, दृढ़ विचार वाले सत्सङ्गी दयालु पुरुष के पास इन्द्रियों तथा मन को वशीभूत रखने से शोक नहीं आता तथा हानि लाभका तत्त्व जानने वालेको भी शोक नहीं व्यापता । ऐसी दशाओंमें भी जब शोक न छोड़े प्रबल हो तो [आंख फूटे पीड़जाय] कहावतके अनुसार उस भागका त्याग करदे जो कई दुःखों का मूल हो । जैसे बोध्य ऋषिने कुररपक्षी को इसी अंशमें गुरु माना था कि कुरर पक्षीके पास एक मांसका टुकड़ा था उसको चाहने वाले अन्य बहुत से पक्षी उस कुररको नोंचते खसोटते महा तंग करते थे जब उसने मांसका टुकड़ा फेंक दिया तब उसी टुकड़े पर अन्य सब पक्षी लड़ने लगे और कुरर को फिर किसी ने तंग नहीं किया वह सुखी हो गया वैसे ही जो मनुष्य अनेक दुःखोंके हेतु को त्याग दे उस के सब दुःख उसी दुःखहेतु पदार्थके साथ ही छूट जाते हैं ॥

किंचिदेवममत्वेन यदाभवतिकल्पितम् ।
तदेवपरितापार्थं सर्वंसम्पद्यतेतदा ॥ ४६ ॥
यद्यत्त्यजतिकामानां तत्सुखस्याभिपूज्यते ।
कामानुसारीपुरुषः कामाननुविनश्यति ॥ ४७ ॥
यच्चकामसुखंलोके यच्चदिव्यंमहत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतःषोडशींकलाम् ॥ ४८ ॥

जब मनुष्य किसी पदार्थमें ममता खड़ी करलेता है तब उसके सम्बन्ध से सब पदार्थ सन्ताप देनेके लिये ही समर्थ होते हैं मनुष्य कामना के जिस २ अंशको छोड़ता जाता है उस २ से सुख मिलता है। यह निश्चित है कि कामना तृष्णाके पीछे २ चलने वाला कामनाके साथ ही नष्ट हो जाता है। संसारमें जो काम जन्य सुख माना जाता और जो दिव्य (स्वर्गीय) महत्सुख कहलाता है ये दोनों ही सुख तृष्णाके नाशसे हुए सन्तोषरूपी सुखकी सोलहवीं कला (भाग) के भी बराबर नहीं हैं ॥ ४६–४८ ॥

ममता ही दुःखका मूल है इसी कारण अन्यके स्त्री पुत्र धनादि पदार्थों का मरण वियोग वा नाश होने पर अन्यको वैसा क्षोभ नहीं होता जैसा कि ये मेरे हैं ऐसा विचार रखने वाले को उन २ अपनों के वियोगमें दुःख होता है। और जो पदार्थ लौट कर जहां चला जाता है वा जिसमें लीन हो जाता है वह उसीका है अपना वा मेरा कहना यही मोह वा अविद्यामात्र दुःखका मूल है॥

पूर्वदेहकृतंकर्म शुभंवायदिवाशुभम् ।
प्राज्ञंमूढंतथाशूरं भजतेयादृशंकृतम् ॥ ४९ ॥
एवमेवकिलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणिच ।
जीवेषुपरिवर्त्तन्ते दुःखानिचसुखानिच ॥ ५० ॥
एतांबुद्धिंसमास्थाय सुखमास्तेगुणान्वितः ।
सर्वान्कामाञ्जुगुप्सेत कोपंकुर्वीतपृष्ठतः ॥ ५१ ॥
वृत्तएषहृदिप्रौढो मृत्युरेषमनोभवः ।
क्रोधोनामशरीरस्थो देहिनांप्रोच्यतेबुधैः ॥ ५२ ॥

पूर्व जन्ममें मन वाणी वा शरीरसे जो कुछ शुभ अशुभ कर्म किये हैं उन

का वैसा ही फल पण्डित मूढ़ और शूरको अवश्यमेव भोगना पड़ता है। इसी प्रकार प्रिय, अप्रिय, सुख और दुःख मनुष्योंमें कर्मानुसार ही लौट २ कर आते जाते हैं। इस प्रकारकी बुद्धिको स्थिर करके पण्डित सुखसे रहता है। बुद्धिमान्‌को चाहिये कि सब कामों (अभिलाषों) की निन्दा करता हुआ क्रोधको सर्वथा छोड़ देवे। और पण्डित लोग इस प्राणियोंके शरीरस्थ क्रोध को ही मनसे उत्पन्न होने वाला, हृदयमें स्थिर मृत्युरूप कहते मानते हैं॥४९-५२॥

मनुष्य पर जो बड़े २ दुःख अकस्मात् ही वा विशेष प्रबल उद्योग किये विना ही आजाते वा उसको भोगने पड़ते हैं। उनका हेतु पूर्वजन्मकृत कर्म ही है इस प्रकार भावीको प्रबल समझनेसे भी शोक कम होता है। द्वितीय यह भी कि मेरे ही किये का यह फल है। जब मैंने किया तो भोगता हूं मेरे पर अन्याय किसीने नहीं किया इत्यादि विचारसे व्याकुलता नहीं होती अहंकारसे क्रोध पैदा होता है परमार्थी पुरुषके लिये क्रोध एक बड़ा प्रबल शत्रु है। काम और क्रोध रूप दो प्रबल शत्रुओं को जीते विना कभी कोई परमार्थ पथमें नहीं चल सकता॥

यदासंहरतेकामान् कूर्मोऽङ्गानीवसर्वशः।
तदात्मज्योतिरात्माय-मात्मन्येवप्रपश्यति॥५३॥
नबिभेतियदाचायं यदाचास्मान्नबिभ्यति।
यदानेच्छतिनद्वेष्टि ब्रह्मसंपद्यतेतदा॥५४॥

जैसे कछुवा अपने अंगोंको समेटकर भीतर कर लेता है वैसे ही जब योगी पुरुष अपनी सब कामनाओंको समाप्त कर देता है तब वह आपमें स्थित होकर अपने में ही ज्योतिःस्वरूप आत्मतत्त्वको देखता है। जब मनुष्य किसीसे भय नहीं करता और न इससे अन्य प्राणी भयभीत होते हैं तथा जब मनुष्यकी कोई अभिलाषा और उसका कोई मित्र वा शत्रु नहीं रहता तब इसको ब्रह्मकी प्राप्ति होजाती है॥ ५३-५५॥

ब्रह्म परमात्मा सदा निर्भय है न वह कभी किसीसे डरता है [क्योंकि वह हिंसा चोरी आदि भयका कोई काम नहीं करता] तथा न उससे कोई डरता है [क्योंकि ईश्वर किसीको न दुःख देता न देना चाहता है दुःख देने की चेष्टा वाले से सब डरते हैं] और ईश्वर में राग द्वेष भी किसीसे नहीं हैं ये ही गुण जब मनुष्य धारण करता है तब ब्रह्मके तुल्य निर्दोष होनेसे उस

को पा सकता है अर्थात् उक्त स्वरूपको धारण करना ही जानो ब्रह्म स्वरूप सोवभाव है और इसीका नाम स्वरूपावस्थिति है ॥

उभेसत्यानृतेत्यक्त्वा शोकानन्दौभयाभये ।
प्रियाप्रियेपरित्यज्य प्रशान्तात्माभविष्यसि ॥ ५५ ॥
यदानकुरुतेभावं सर्वभूतेषुपापकम् ।
कर्मणामनसावाचा ब्रह्मसम्पद्यतेतदा ॥ ५६ ॥

वह ब्राह्मण राजा सेनजित्से कहता है कि हे राजन् ! तुम--सत्य--अनृत शोक--आनन्द, भय--अभय, प्रिय--अप्रिय, को छोड़कर प्रशान्तात्मा हो जाओगे। जब मनुष्य मन वाणी और कर्मसे सब प्राणियोंमें पापका विचार नहीं रखता अर्थात् सबको सम देखता है तब वह ब्रह्म स्वरूप होजाता है ५५--५६ ॥

सत्य नाम चिरस्थायी सार वा प्राणका और अनृत नाम शीघ्र बिगड़ने नष्ट होने वाले असार वा अपान--रूप मृत्युका है। ये सब ब्रह्ममें नहीं हैं सब पापोंसे रहित सदा निर्दोष शुद्ध ईश्वर है इसी लिये निर्दोष हुआ पुरुष ईश्वरको पा सकता है वा यों कहो कि चित्त स्वरूप नदीमें वृत्तिरूप तरंगों का उठना ही विकार रूप कायिक वाचिक मानस पाप कहाता है और जब तरंगरूप विकार नहीं उठते तब सभी काम क्रोधादि शान्त होजाते हैं, यही शान्तिमय ब्रह्मस्वरूप होना है ॥

यादुस्त्यजादुर्मतिभि--र्यानजीर्य्यतिजीर्य्यतः ।
योऽसौप्राणान्तकोरोग--स्तांतृष्णांत्यजतःसुखम् ॥५७॥

तृष्णा एक ऐसी बुरी बलाय है कि जो दुर्बुद्धि पुरुषोंसे त्यागी नहीं जाती और वृद्ध होने पर चौगुनी होती है किन्तु यह तृष्णारूपी रोग जीवनको नष्ट भ्रष्ट कर देता है जो पुरुष इस तृष्णाको छोड़ देते हैं वे ही सुखके भागी होते हैं तृष्णा नष्ट हुए विना कभी सुख नहीं मिलता ॥ ५८ ॥

तृष्णा ही एक मनुष्य के लिये बड़ा बन्धन है इसीका छूटना मुक्ति है इसीका नाम लोभ वा काम है यही सब पापोंका मूल कारण है ॥

अत्रपिङ्गलयागीता गाथाःश्रूयन्तिपार्थिव ! ।
यथासाकृच्छ्रकालेऽपि लेभेधर्मंसनातनम् ॥ ५८ ॥
संकेतेपिङ्गलावेश्या कान्तेनासीद्विनाकृता ।
अथकृच्छ्रगताशान्तां बुद्धिमास्थापयत्तदा ॥ ५९ ॥

ब्राह्मण कहता है कि हे राजन् सेनजित्! इस तृष्णाके विषयमें पिङ्गला वेश्यासे कही हुई गाथायें (कहावत) सुनी जाती हैं। जैसे वह पिङ्गला खोटे समय में भी सनातन धर्मको प्राप्त होगई। अर्थात् पिङ्गला वेश्या किसी साङ्केतिक स्थानमें जाकर कान्त [यार] से मिलनेकी आशासे बैठी थी परन्तु दोनों का संकेत होजाने पर भी पिंगलाका कान्त [यार] वहां उस समय न आया बड़ी चाहना जिसके प्राप्त होनेकी थी न मिलने पर कठिन दुःखमें पड़ी पिङ्गलाने विचारके बुद्धिको शान्त कर स्थित किया ॥ ५९-६० ॥

जैसे दुःख सुखका हेतु होता वैसे अधर्म दुराचरण भी कभी कहीं धर्म वा पुण्यका हेतु हो सकता है। अर्थात् मनुष्यको जब दुराचरण व्यभिचारादि कर्मोंसे अनेक धक्के लगते पीड़ित होता वा उन कर्मोंसे जब सुख न मिलकर अपार दुःख दीखता है तब उसको अपने उस दुष्कृतमें ग्लानि होती है इस कारण उधरसे हटकर पुण्य कर्मोंकी ओर ऐसा कोई २ पुरुष मुख फेरता है जैसा कि पिङ्गला ने किया ॥

पिङ्गलोवाच–उन्मत्ताहमनुन्मत्तं कान्तमन्ववसंचिरम् ।
अन्तिकेरमणंसन्तं नैनमध्यगमंपुरा ॥ ६० ॥
एकस्थूणंनवद्वार–मपिधास्याम्यगारकम् ।
काहिकान्तमिहायान्त–मयंकान्तेतिमंस्यते ॥ ६१ ॥
अकामाङ्कामरूपेण धूर्त्तानरकरूपिणः ।
नपुनर्वञ्चयिष्यन्ति प्रतिबुद्धास्मिजागृमि ॥ ६२ ॥
अनर्थेहिभवेदर्थो दैवात्पूर्वकृतेनवा ।
सम्बुद्धाहंनिराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया ॥ ६३ ॥
सुखन्निराशःस्वपति नैराश्यम्परमंसुखम् ।
आशामनाशांकृत्वाहि सुखंस्वपितिपिङ्गला ॥ ६४ ॥

पिङ्गला वेश्या कहने लगी कि–मैं उन्मत्त हो कर कभी उन्मत्त न होने वाले अपने सनातन कान्त—प्यारे (ईश) के पास बहुत काल से रही–बसी परन्तु श्रेष्ठ रमण–पति (रक्षक) को पास में होने पर भी अब तक मैंने नहीं जाना। अब एक आशा वा तृष्णा स्तम्भ (थूना) वाले और नौ [२ छिद्र नाक के २ कान २ आंख, १ मुख, २ नीचे मलमूत्र के इन ९ नव) द्वार

वाले इस शरीररूप घर को (बन्द) करलूंगी। अब मैं ऐसी नहीं रही कि संसारी किसी मनुष्य को कान्त नाम अपना यार दोस्त मानूं। अब मैं काम से रहित हो गई और अब नरक में पहुंचाने वाले ही नहीं प्रत्युत साक्षात नरकरूप धूर्त्त व्यभिचारी जन मुझे न ठग सकेंगे। अब मैं अज्ञाननिद्रा से उठ खड़ी हुई=जागती हूं प्रारब्ध वा पूर्वकर्म से अनर्थ में भी अर्थ हो जाता है और मैंने जाग कर जानलिया कि मेरा स्वरूप शरीर नहीं है किन्तु मेरा आत्मरूप है और वह आकार रहित है इस प्रकार ज्ञान हो जाने से मैं अब जितेन्द्रिय हो गई हूं। आशा रहित पुरुष सुख से सोता है इसीलिये नैराश्य आशा का न रखना परम सुख है पिङ्गला वेश्या आशा को निराशा [आशा का अभाव] करके सुख से सोई-रही=सुख को प्राप्त हुई ॥ ६१—६५ ॥

" निराशः सुखी पिङ्गलावत् " सांख्यशास्त्र के चतुर्थ्याध्याय का यह सूत्र है मनुष्य आशा—कामना—काम--लोभ वा तृष्णा--चाहना--भोग की अभिलाषा इत्यादि नाम वाले एक ही प्रबल दुर्जय शत्रु को यदि वश में करले जीतपावे तो उस के निकट आने वाली असंख्य विपत्तियां सभी निराश हो जाती हैं। मङ्किगीता में इसी एक कामना पर सब लेख हुआ है। यही एक आशा वा भोग तृष्णा मनुष्य को भुलाने वा कर्त्तव्य से डिगाने वाला प्रबल शत्रु है। इसके वशीभूत होते ही ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, परमार्थ प्राप्ति वा निःश्रेयस निष्कण्टक कल्याणमार्ग प्राप्त होने में फिर कुछ भी विलम्ब नहीं रहता। इस लिये मुमुक्षु जिज्ञासु पुरुष को इस तृष्णा को तोड़ने छोड़ने के लिये प्रबल उपाय शोचने तथा प्रारब्ध कर ही देने चाहिये ॥

भीष्मउवाच-एतैश्चान्यैश्चविप्रस्य हेतुमद्भिःप्रभाषितैः ।
पर्य्यवस्थापितोराजा सेनजिन्मुमुदेसुखी ॥ ६५ ॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! उस ब्राह्मण के युक्तियुक्त पूर्वोक्त तथा अन्य ऐसे ही वचनों से राजा सेनजित् आपेमें आ कर प्रसन्न होता हुआ सुखी हुआ ॥ ६६ ॥

इति शान्तिपर्वणिमोक्षधर्मपर्वणिपिङ्गल (ला) गीतायाम्--१७४ तमोऽध्यायः ।

अथ शम्पाकगीता

युधिष्ठिरउवाच–धनिनोऽथाधनायेच वर्त्तयन्तेस्वतन्त्रिणः ।
सुखदुःखागमस्तेषां कःकथंवापितामह ! ॥१॥

महाराजा युधिष्ठिरजी भीष्म पितामहजी से पूछते हैं कि–हे पितामह ! इस संसार में धनी और निर्धन पुरुष किस प्रकार स्वतन्त्र होकर वर्त्ताव करते हैं तथा उन को सुख दुःख की प्राप्ति कैसी वा किस प्रकार होती है सो समझा कर कहिये ॥ १ ॥

भीष्मउवाच–अत्राप्युदाहरन्तीम–मितिहासंपुरातनम् ।
शम्पाकेनेहमुक्तेन गीतंशान्तिंगतेनच ॥ २ ॥
अब्रवीन्मांपुराकश्चिद् ब्राह्मणस्त्यागमास्थितः ।
क्लिश्यमानःकुदारेण कुचेलेनबुभुक्षया ॥ ३ ॥
उत्पन्नमिहलोकेवै जन्मप्रभृतिमानवम् ।
विविधान्युपवर्त्तन्ते दुःखानिचसुखानिच ॥ ४ ॥
तयोरेकतरेमार्गे यदेनमभिसंनयेत् ।
नसुखंप्राप्यसंहृष्येन् नासुखंप्राप्यसंज्वरेत् ॥ ५ ॥

भीष्मजी राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं कि–हे राजन् ! इस विषयमें एक पुराना इतिहास कहा जाता है जिसको शान्त वैराग्यवान् शम्पाक ब्राह्मणने कहा है । खोटी स्त्री, फटे पुराने वस्त्र और भूखसे क्लेशित हुए त्यागी ब्राह्मण (शम्पाक नामी) ने मुझसे पहिले कहा था कि हे भीष्म ! इस संसार में जन्मसे लेकर उत्पन्न हुए मनुष्यको अनेक प्रकारके सुख और दुःख घेरते हैं । इससे मनुष्यको उचित है कि सुख दुःखोंमें से एकके भी आधीन न होवे अर्थात् सुखको प्राप्त होकर न प्रसन्न हो तथा दुःखको प्राप्त होकर घवड़ावे नहीं ॥ २–५॥

उत्पन्न हुए प्राणियों को भूख लगती यह दुःख और उत्तम भोजन मिलना सुख है फिर उससे मलमूत्र होना उनके दुर्गन्धका सहना यह फिर दुःख होता है इस प्रकार दुःखका परिणाम सुख और सुखका परिणाम दुःख पारापारीसे आता जाता है इसी प्रकारके वर्त्तावों पर मनुष्यका जीवन निर्भर है इससे सिद्ध है कि सुख दुःख दोनों स्वभावसे ही भोगने

पड़ते हैं जब देहधारी मात्र दुःखोंसे सर्वथा बच ही नहीं सकता तब मानलेना चाहिये कि जैसे जल के भीतर रहने वाला जलके शीत से कदापि नहीं बचता वैसे ही संसारमें रहने वाला संसारी दुःखोंसे नहीं बचेगा इस लिये सुख दुःखमें सम रहे ॥

नवैचरसियच्छ्रेय आत्मनोत्रायदीशिषे ।
अकामात्मापिहिसदा धुरमुद्यम्यचैवह ॥६॥
अकिञ्चनःपरिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि ।
अकिञ्चनःसुखंशेते समुत्तिष्ठतिचैवह ॥ ७ ॥
आकिंचन्यंसुखंलोके पथ्यंशिवमनामयम् ।
अनमित्रपथोह्येष दुर्लभःसुलभोमतः ॥ ८ ॥
अकिंचनस्यशुद्धस्य उपपन्नस्यसर्वतः ।
अवेक्षमाणस्त्रींल्लोकान् नतुल्यमिहलक्षये ॥९॥
आकिंचन्यंचराज्यंच तुलयासमतोलयम् ।
अत्यरिच्यतदारिद्र्यं राज्यादपिगुणाधिकम् ॥ १० ॥

वह शम्पाक नामक ब्राह्मण भीष्मजीसे कहता है कि-हे भीष्म! तुम जो बहुत सी आशायें रखते हो यह तुम्हारे कल्याणका मार्ग नहीं है। यदि कहो कि राज्यादि का केवल बोझा ले चलते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि अकाम पुरुष धुरका बोझा नहीं उठाता है। यदि तुम सांसारिक सब धनादिको छोड़ दोगे तो सुख का स्वाद जानोगे। धनादि का त्यागी पुरुष ही सुख की नींद सोता और उठता है। संसारमें एक धनका त्यागी होना ही दुःखों से रहित कल्याण स्वरूप चलने योग्य मार्ग है। इस मार्गमें कोई शत्रु नहीं है यह मार्ग सुलभ और दुर्लभ दोनों प्रकार का है। जो शुद्धान्तःकरणसे धनका त्यागी योग्य पुरुष है उसके समान तीनो लोकों में कोई पुरुष नहीं है इस बातको मैं समझ पूर्वक जानता हूं। मैंने धनादिका त्याग और राज्यकी तुला (तराजू) से तोला है उसमें राज्यसे भारी और अधिक गुण वाला दारिद्र्य-धनैश्वर्यादि का त्याग हुआ ॥ ६-१० ॥

आकिंचन्येचराज्येच विशेषःसुमहानयम् ।
नित्योद्विग्नोहिधनवान् मृत्योरास्यगतोयथा ॥ ११ ॥
नैवास्याग्निर्नचारिष्टो नमृत्युर्नचदस्यवः ।

प्रभवन्तिधनत्यागाद्‌ विमुक्तस्यनिराशिषः ॥१२॥
तंवैसदाकामचरं मनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधानंशाम्यन्तं प्रशंसन्तिदिवौकसः ॥१३॥

त्याग और राज्य में बड़ा अन्तर यह है कि-धनवान् सदा घबराया हुआ सा रहता है तथा उस की वह दशा रहती है जैसे मरने वाले मनुष्यादि की हो। और जो धनादि पदार्थों से विरक्त आशारहित है उस पुरुष को अग्नि, किसी प्रकार की हानि नहीं करता मृत्यु और डांकू आदि नहीं सताते। जो पुरुष सब का त्याग कर-स्वेच्छापूर्वक विचरता, विना विछौनेके पृथिवी पर सोता, बाहु (भुज) को उपधान-तकिया बनाता और शान्ति का आश्रय लेता है उस की देवता (भी) प्रशंसा करते हैं ॥ ११-१३ ॥

धनादि उत्तम ऐश्वर्यकी चाहना रखने वाले बहुत मनुष्य सदा ही होते हैं। वे लोग उसी पुरुष से धन लेनेकी चेष्टा करते दाव लगाये रहते हैं कि जिसके पास धनादि होता है कोई चोरी करके, कोई ठग कर, कोई खुशामद से कोई लूट कर उससे धन लेना चाहता है। जैसे किसी को अपने खाये जाने मारे जाने का प्रतिक्षण भय लगा हो तो उसको सुख नहीं मिल सकता इसी प्रकार धनी लोगों को प्रत्येक समय भय लगा रहता है किसी समय उनकी ठीक सुख पूर्वक स्थिति नहीं रहती, पर निर्धनता में केवल यही दुःख है कि हमारे पास धन नहीं कैसे मिले कहां से मिले क्या करें ? इत्यादि परन्तु उन को यदि धन प्राप्ति की तृष्णा शान्त हो जावे और उस के स्थानमें परम सन्तोष हो जावे तो धनी तथा निर्धन दोनों को होने वाला दुःख उस सन्तोषी को नहीं होता। ऐसे पुरुष को धनी तथा निर्धन दोनों ही प्रतिष्ठा करते बड़ा पूज्य मानने लगते हैं। यही बड़प्पन पूर्वकाल में ब्राह्मणों में था इसी गुण से राजादि को भी ब्राह्मण तुच्छ समझते थे ॥

धनवान्क्रोधलोभाभ्या-माविष्टोनष्टचेतनः ।
तिर्य्यगीक्षःशुष्कमुखः पापकोभ्रुकुटीमुखः ॥१४॥
निर्दशन्नधरोष्ठञ्च क्रुद्धोदारुणभाषिता ।
कस्तमिच्छेत्परिद्रष्टुं दातुमिच्छतिचेन्महीम् ॥१५॥
श्रियाह्यभीक्ष्णंसंवासो मोहयत्यविचक्षणम् ।
सातस्यचित्तंहरति शारदाभ्रमिवानिलः ।
तथैनंरूपमानश्च धनमानश्चविन्दति ॥ १६ ॥

अभिजातोऽस्मिसिद्धोऽस्मि नास्मिकेवलमानुषः ।
इत्येतैःकारणैस्तस्य त्रिभिश्चित्तंप्रमाद्यति ॥१७॥

धनवान् पुरुष क्रोध और लोभ से युक्त होकर विचारशक्ति से रहित हो जाता है वह पापी तिरछा देखता सूखे मुख से नम्रता छोड़ के बात करता, क्रोध लोभ के कारण नाक भौं चढ़ाता, और नीचे के ओष्ठ को चबाता हुआ कठोर बोलने वाला होता है। ऐसा कौन विचारवान् पुरुष है ? जो उक्त प्रकार के पृथिवी दाता को भी देखना चाहे ? अर्थात् कोई नहीं । लक्ष्मी-धन का निकट में बार २ अधिक २ आना-बसना ठहरना विवेक शक्ति रहित मूर्ख को मोहित कर देता है और वह लक्ष्मी इस प्रकार उस धनी पुरुष के चित्त को हर लेती है जैसे शरद् ऋतु के बादलों को वायु उड़ा लेजावे । तथा धनी पुरुष को अपने रूपवान् और धनवान् होने का मान घेर लेता है। धनवान् पुरुष विचारा करता है कि-मैं कुलीन हूं मैं सिद्ध हूं मैं केवल मनुष्य नहीं हूं किन्तु देव भी हूं इन तीन कारणों से उसके चित्त को प्रमाद [नशा] हो जाता है ॥ १४-१७॥

विद्यामद, धनमद और कुलीनता का मद इन तीनों प्रकार के मदों [नशाओं] में धन का मद सर्वोपरि प्रबल वा प्रधान है। धन के साथ सब मद हो जाते हैं। इस धन के प्रमाद से मनुष्य अपने सभी कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है और धर्माधर्म का विवेक धनवान् को नहीं रहता अर्थात् मनुष्य की अधोगति का एक बड़ा कारण धन ही है ॥

सम्प्रसक्तमनाभोगान् विसृज्यपितृसंचितान् ।
परिक्षीणःपरस्वाना–मादानंसाधुमन्यते ॥ १८ ॥
तमतिक्रान्तमर्याद–माददानंततस्ततः ।
प्रतिषेधन्तिराजानो लुब्धामृगमिवेषुभिः ॥१९॥
एवमेतानिदुःखानि तानितानीहमानवम् ।
विविधान्युपपद्यन्ते गात्रसंस्पर्शजान्यपि ॥ २० ॥
तेषांपरमदुःखानां बुद्ध्याभैषज्यमाचरेत् ।
लोकधर्ममवज्ञाय ध्रुवाणामध्रुवैःसह ॥ २१ ॥

जो संसारी भोगोंमें अधिक लिप्त होता है वह पित्रादिके संचित भोगों नाम भोग्य पदार्थों को व्यर्थ द्यूत-जुआ व्यभिचारादि दुर्व्यसनोंमें नष्ट करके

क्षीण हुआ पराये धनादि पदार्थों को लेना अच्छा मानता है पश्चात् उस मर्यादा तोड़ने वाले तथा इधर उधर से पराया माल मारने वाले नीच पुरुष के पीछे राजा लोग दण्ड देने को इस प्रकार लग जाते हैं जैसे व्याध लोग बाणों से मारने के लिये हरिण के पीछे लगजावें । इसी प्रकार अनेक प्रकार के कामलोभादिजन्य अनेक दुःख मनुष्यों के पीछे लगजाते हैं जो कि आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक भेद से तीन प्रकार के हैं। इन परमदुःखों के दूर करने के लिये मनुष्य को बुद्धि से विचार कर बड़ा प्रयत्न करना चाहिये और नित्य अनित्य का विचार करता हुआ मनुष्य लोक व्यवहार की कुछ परवाह न करे ॥ १८-२१ ॥

धन ऐश्वर्यादि भोगों के होने न होने सब दशा में आने वा रहने वाले दुःखों की ओषधि केवल सत् असत् का विवेक कर सकने योग्य बुद्धि से स्वयं विचार के ही कर सकता है अन्य कोई ओषधि नहीं है। और वे सब दुःख, संसार को दुःखमय अनित्य असार समझ सकने पर ही वैराग्य होने से निवृत्त हो सकते हैं अन्य कोई प्रकार दुःखों से बचने का नहीं है ॥

नात्यक्त्वासुखमाप्नोति नात्यक्त्वाविन्दतेपरम् ।
नात्यक्त्वाचाभयःशेते त्यक्त्वासर्वंसुखीभव ॥२२॥
इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम् ।
शम्पाकेनपुरामह्यं तस्मात्त्यागःपरोमतः ॥२३ ॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे राजन् ! वह ब्राह्मण मुझ से बोला कि--हे भीष्म ! विना त्याग किये सुख नहीं मिलता, विना त्याग किये मुक्ति नहीं प्राप्त हो सक्ती और विना त्याग किये कोई निर्भय नहीं सो सक्ता है। इस से तुम सब को छोड़ कर सुखी होवो। हस्तिनापुर में पहिले मुझ से यह सब कथन शम्पाक नामक ब्राह्मण ने किया था तिस कारण मैं त्याग को परम श्रेष्ठ मानता हूं ॥ २२ । २३ ॥

इति शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शम्पाकगीतायाम्-१७६ तमोऽध्यायः ॥

अथ-अजगरगीता ॥

युधिष्ठिर उवाच-केनवृत्तेनवृत्तज्ञ ! वीतशोकश्चरेन्महीम् ।
किंचकुर्वन्नरोलोके प्राप्नोतिगतिमुत्तमाम् ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर जी भीष्म पितामह जी से पूंछते हैं कि-व्यवहारों तथा धर्म को जानने वाले हे पितामह जी ! किस वर्त्ताव से शोक को निवृत्त करता हुआ पुरुष पृथिवी पर विचरे और संसार में मनुष्य किस कर्म को करता हुआ उत्तमगति को प्राप्त होता है ? [तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः] इस वेद प्रमाण के अनुसार शोक मोह की निवृत्ति ही परम वा अत्यन्त पुरुषार्थ है । इसी लिये राजा युधिष्ठिर ने वैसा प्रश्न किया है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच-अत्राप्युदाहरन्तीम-मितिहासंपुरातनम् ।
प्रह्लादस्यचसंवादं मुनेराजगरस्यच ॥ २ ॥
चरन्तब्राह्मणंकंचित् कल्पचित्तमनामयम् ।
पप्रच्छराजाप्रह्लादो बुद्धिमान्बुद्धिसम्मितम् ॥ ३ ॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिर को उत्तर देते हैं कि-इस विषय में एक पुराना इतिहास कहा जाता है जो कि प्रह्लाद और अजगर ऋषि के संवाद रूप से प्रसिद्ध है । बुद्धिमान् प्रह्लाद राजा ने प्रसन्न वा दृढ़ समर्थ चित्त वाले रोग रहित किसी बुद्धिमान् ब्राह्मण (अजगर नामक) को फिरता हुआ देखकर पूछा कि ॥ २ । ३ ॥

प्रह्लाद उवाच-स्वस्थःशुद्धोमृदुर्दान्तो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
सुवाक्प्रगल्भोमेधावी प्राज्ञश्चरसिबालवत् ॥४॥
नैवप्रार्थयसेलाभं नालाभेष्वनुशोचसि ।
नित्यतृप्तइवब्रह्मन्नकिंचिदिवमन्यसे ॥५॥
स्रोतसाह्रियमाणासु प्रजासुविमनाइव ।
धर्मकामार्थकार्य्येषु कूटस्थइवलक्ष्यसे ॥ ६ ॥
नानुतिष्ठसिधर्मार्थौ नकामेचापिवर्त्तसे ।
इन्द्रियार्थाननादृत्य मुक्तश्चरसिसाक्षिवत् ॥ ७ ॥
कानुप्रज्ञाश्रुतंवाकिं वृत्तिर्वाकानुतेमुने ! ।
क्षिप्रमाचक्ष्वमेब्रह्मन् श्रेयोयदिहमन्यसे ॥ ८ ॥

राजा प्रह्लाद अजगर ऋषि से कहने लगे कि-हे मुने ! तुम स्वस्थ, शुद्ध, कोमल, जितेन्द्रिय, आरम्भ करने की इच्छा से रहित, अनिन्दक, सुवाक्, प्रगल्भ, मेधावी और प्राज्ञ होकर भी संसार में बालक की भांति विचरते हो। न तुम लाभों को चाहते और न हानियों के होने पर शोक करते हो। हे ब्राह्मण ! तुम नित्य तृप्त से हुए संसार के द्वन्द्वों को कुछ भी नहीं मानते ऐसे प्रतीत होते हो। कालरूपी सोते (स्रोत) से बहाई हुई प्रजाओं में उदासीन से जान पड़ते हो। धर्म अर्थ और काम सम्बन्धी कार्यों में मध्यस्थ से विदित होते हो। न तो तुम अर्थ धर्म का सेवन करते और न काममें प्रवृत्त रहते हो। किन्तु इन्द्रियों के विषयों का अनादर करके मुक्त हुए साक्षी के तुल्य विचरते हो। अब आप से प्रश्न यह है कि आप की प्रज्ञा, श्रुत (वेदाध्ययनादि) और वृत्ति कैसी है ? यदि कल्याणकारी समझें तो इसका उत्तर शीघ्र दीजिये ॥ ४--८ ॥

स्वस्थ नाम अपने स्वरूप में अवस्थित आपे से बाहर न होने वाले विषय दोषों से जिनके इन्द्रिय वा मन दूषित नहीं होते इत्यादि लक्षणों-चिन्हों वाले योगी वा ज्ञानी लोग हुआ करते हैं। बहुतकाल के अभ्यास से मनुष्य ऐसी उत्तम दशा को प्राप्त कर सकता है जीवन्मुक्त ज्ञानी वा सिद्ध योगी लोगों में ऐसे ही चिन्ह हुआ करते हैं ॥

भीष्म उवाच–अनुयुक्तःसमेधावी लोकधर्मविधानवित् ।
उवाचश्लक्ष्णयावाचा प्रह्लादमनपार्थया ॥ ९ ॥
पश्यप्रह्लादभूताना–मुत्पत्तिमनिमित्ततः ।
ह्रासंवृद्धिंविनाशंच नप्रहृष्येनचव्यथे ॥ १० ॥
स्वभावादेवसंदृश्या वर्त्तमानाःप्रवृत्तयः ।
स्वभावनिरताःसर्वाः परितुष्येनकेनचित् ॥ ११ ॥
पश्यप्रह्लादसंयोगान् विप्रयोगपरायणान् ।
संचयांश्चविनाशान्तान् नक्वचिद्विदधे मनः ॥१२॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! जब प्रह्लाद ने अजगर ऋषि से उक्त प्रकार कहा तब वे लोग धर्म के प्रकार को जानने वाले मेधावी अजगर ऋषि कोमल प्रिय सत्य सार्थक वाणी से प्रह्लाद को संबोधित करके कहने लगे-हे प्रह्लाद ! अनिमित्त नाम स्वभाव से भूतों की उत्पत्ति को देखो तथा उन के ह्रास, वृद्धि और विनाश की ओर भी दृष्टि डा-

लो। मुझे किसी दशा के किसी पदार्थ को देखकर हर्ष शोक वा सुख दुःख नहीं होते। सांसारिक प्रवृत्तियां स्वभाव से ही दीख पड़ती हैं और वे सब स्वभावके आधीन हैं। मैं किसीसे सन्तुष्ट नहीं होता। हे प्रह्लाद! वियोगाभिमुख संयोगों तथा विनाशाभिमुख संचयों को देख कर मेरा मन किसी पदार्थ में आसक्त वा विकारयुक्त नहीं होता॥ ९-१२॥

अग्नि की स्वाभाविक दाहशक्ति से किसी की हानि भी होती है तो भी वह किसी पर क्रोध नहीं कर सकता। इसी प्रकार संसार में सभी प्रकार के हानि लाभ सुख दुःख जीवन मरणादि स्वभाव से ही होते हैं अर्थात् स्वाभाविकता यही है कि उन हानि लाभादि द्वन्द्वों की निवृत्ति कदापि कोई नहीं कर सकता। इसी लिये जिस के बहुत शत्रु हैं उस को भी कुछ न कुछ लाभ तथा जिस के बहुत मित्र हैं उस को भी कुछ न कुछ हानि होती ही है स्वभाव नाम रूप वाला भी ईश्वर ही है इस लिये स्वभाव से जो होता है वही ईश्वरेच्छा से हुआ जानो॥

अन्तवन्तिचभूतानि, गुणयुक्तानिपश्यतः।
उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किंकार्य्यमवशिष्यते॥ १३॥
जलजानामपिह्यन्तं पर्य्यायेणोपलक्षये।
महतामपिकायानां सूक्ष्माणांचमहोदधौ॥ १४॥
जङ्गमस्थावराणांच भूतानामसुराधिप!।
पार्थिवानामपिव्यक्तं मृत्युंपश्यामिसर्वशः॥ १५॥
अन्तरिक्षचराणांच दानवोत्तम! पक्षिणाम्।
उत्तिष्ठतेयथाकालं मृत्युर्बलवतामपि॥ १६॥
दिविसंचरमाणानि ह्रस्वानिचमहान्तिच।
ज्योतींष्यपियथाकालं पतमानानिलक्षये॥ १७॥
इतिभूतानिसंपश्य–न्ननुषक्तानिमृत्युना।
सर्वसामान्यगोविद्वान् कृतकृत्यःसुखंस्वपे॥ १८॥

सत्वादि गुणों से युक्त अन्त-नाश वाले भूतों को देखते हुए तथा उत्पत्ति और मृत्यु को जानने वाले पुरुष के लिये कोई कार्य्य शेष नहीं रहता। हे प्रह्लाद! पर्य्याय (पारी) से समुद्रमें अत्यन्त बड़े तथा सूक्ष्म जलजन्तु शरीरों का

भी नाश होता मैं देख रहा हूं। हे असुराधिप! प्रह्लाद! जड़ चेतन और राजाओं का भी सब ओर से स्पष्ट मृत्यु दीख पड़ता है। हे दानवोत्तम! प्रह्लाद! अन्तरिक्षमें उड़ने वाले पक्षी और बलवानोंका भी मृत्यु ठीक समय पर आकर उपस्थित होजाता है। हे प्रह्लाद! आकाश से चलते हुए छोटे बड़े नक्षत्र, ताराओं को भी यथाकाल गिरता हुआ देखता हूं। उक्त प्रकार से सब भूतों को मृत्यु से दबाया हुआ देख जानकर सब में सामान्य-उदासीन बुद्धि रखता हुआ कृतकृत्य होकर सुखपूर्वक सोता हूं॥ १३-१८॥

पूर्व कहे स्वाभाविक इष्ट अनिष्ट के यहां उदाहरण दिखाये हैं कि जैसे सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतियों का तथा पृथिव्यादि सब बड़े २ पदार्थों का भी उत्पत्ति विनाश स्वभाव से ही कल्प २ में होता है वैसे ही मनुष्यादि का भी सब जीवन मरणादि इष्ट अनिष्ट पूर्व संचित कर्म से जन्म के साथ बने स्वभाव नाम प्रारब्धानुसार ही होता है। जिसको कोई किसी उपाय से हटा नहीं सकता। इस को जो यथार्थ ठीक समझ लेता है उस को हर्ष शोक नहीं होते जिस के ध्यान में यह ठीक जंच जावे कि सुख वा सुख के हेतु तथा दुःख वा दुःख के हेतु पारापारी स्वभाव से ही आते जाते हैं तब हर्ष शोक घटते जाते हैं॥

सुमहान्तमपिग्रासं ग्रसेलब्धंयदृच्छया।
शयेपुनरभुञ्जानो दिवसानिबहून्यपि १९॥
आशयन्त्यपिमामन्नं पुनर्बहुगुणंबहु।
पुनरल्पंपुनःस्तोकं पुनर्नवोपपद्यते ॥२०॥
कणान्कदाचित्खादामि पिण्याकमपिचग्रसे।
भक्षयेशालिमांसानि भक्ष्यांश्चोच्चावचान्पुनः ॥२१॥
शयेकदाचित्पर्य्यङ्के भूमावपिपुनःशये।
प्रासादेचापिमेशय्या कदाचिदुपपद्यते ॥ २२ ॥
धारयामिचचीराणि शाणक्षौमाजिनानिच।
महार्हाणिचवासांसि धारयाम्यहमेकदा ॥२३॥
नसन्निपतितंधर्म्य मुपभोगंयदृच्छया।
प्रत्याचक्षेनचाप्येन=मनुरुध्येसुदुर्लभम् ॥ २४ ॥

अजगर ऋषि प्रह्लाद से कहते हैं कि मैं दैवयोग से प्राप्त हुए कभी बड़े अच्छे ग्रास [भोजन] को खाता हूं. कभी बहुत दिनों तक विना खाये ही सोया पड़ा रहता हूं, फिर कभी मनुष्य मुझ को बहुत सा स्वादु अन्न खिलाते हैं. कभी थोड़ा अन्न मिलता, कभी अत्यन्त अल्प प्राप्त होता है कभी २ मिलता ही नहीं, कभी, कणों भूसी का स्वाद लेता हूं और कभी पिण्याक [पीना] को भी खाता हूं, फिर कभी शालि मांस उत्तम भात और मांसको खाता [यहां मांस भक्षण का विधान नहीं किन्तु अनुवाद मात्र है। भक्ष्याभक्ष्य के विचार प्रसङ्ग में मांस अभक्ष्य है । परिसंख्या विधिका अभिप्राय निवृत्ति में होना सिद्ध है। अनुवाद वाक्य से विधि निषेध दोनों ही सिद्ध नहीं होते] तथा फिर कभी ऊंचे नीचे प्रकार के भोजन करता हूं। कभी पलंग पर कभी पृथिवी पर सोता और कभी प्रासाद पर मेरी शय्या होती है। किसी समय शण और अलसीके वस्त्रोंको पहिनता और किसी समय बहु मूल्य (रेशमी) वस्त्रों को धारण करता हूं। अकस्मात् धर्मानुकूल प्राप्त हुए अच्छे वा बुरे उपभोग का तिरस्कार नहीं करता तथा उक्त प्रकार के अत्यन्त दुर्लभ उपभोगों की कामना भी नहीं रखता कि ऐसे ही मिले ॥ १९-२४ ॥

अच्छे बुरे इष्ट अनिष्ट किसी प्रकार के भोग जिस को प्राप्त होते हुए क्षोभ उत्पन्न नहीं करते वह मनुष्य द्वन्द्वातीत वा गुणातीत हुआ जीवन्मुक्तोंकी कोटि में माना जायगा। ऐसी दशा बहुत काल के निरन्तर सेवन किये योगाभ्यास से प्राप्त हो सकती है ऐसी दशा प्राप्त करनेके लिये अभ्यास तथा वैराग्य का वार २ अनुशीलन ही प्रधान कारण है ॥

अचलमनिधनंशिवंविशोकं शुचिमतुलंविदुषांमतेप्रविष्टम् ।
अनभिमतमसेवितंविमूढै=र्व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि ॥२५॥
अचलितमतिरच्युतःस्वधर्मात् परिमितसंसरणःपरावरज्ञः ।
विगतभयकषायलोभमोहो व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि ॥२६॥
अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं विधिपरिणामविभक्तदेशकालम् ।
हृदयसुखमसेवितंकदर्यै र्व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि ॥२७॥

अजगर ऋषि कहते हैं कि-उक्त प्रकार के अचल, अमरण, कल्याणस्वरूप, शोक रहित, पवित्र, अनुपम, विद्वानोंके सिद्धान्तानुकूल, विमूढों से असेवित और अस्वीकृत अविनाशी व्रत का मैं पवित्र होकर सेवन करता हूं। मैं स्थिर बुद्धि, स्वधर्मसेवी नियतगति, संसार परमार्थ को जानने वाला तथा भय ग्लानि लोभ और मोह को छोड़कर अविनाशी वा अपने अंतका सेवन करताहूं।

मैं अपने लिये फल, भक्ष्य भोज्य और पेय नियत नहीं करता तथा विधाता के नियत किये फलसे देशकालका विभाग जानता हूं। तथा हृदयको सुख-कारी धर्मका सेवन करता हुआ अविनाशी धर्मका सेवन करता हूं इस व्रतका सेवन खोटे पुरुष नहीं कर सकते ॥ २५—२७ ॥

परमार्थ ही सर्वथा कल्याणकारी निष्कण्टक मार्ग है इस मार्ग में बड़ा ही सावधान मनुष्य कभी कोई चल सकता है । राग द्वेष मोहादिमें फंसे प्राणी कदापि इस मार्गमें नहीं चल सकते । इस मार्गमें घबराहट, मृत्यु, दुःख, शोक और मलिनतादि दोष नहीं हैं। इसी कारण इस मार्गमें चलने वालेके दुःख इसी प्रत्यक्ष शरीरमें क्रमशः छूटते जाते हैं इसी लिये वह अपने को कृतकृत्य मानता हुआ बड़े उत्साहसे इस मार्गके अगले २ भागोंमें प्रवेश करता जाता है ॥

इदमिदमितितृष्णयाऽभिभूतं जनमनवाप्तधनंविषीदमानम् ।
निपुणमनुनिशम्यतत्त्वबुद्ध्या व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि॥२०॥
बहुविधमनुदृश्यचार्थहेतोःकृपणमिहार्यमनार्य्यमाश्रयन्तम् ।
उपशमरुचिरात्मवान्प्रशान्तो व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि।
सुखमसुखमलाभमर्थलाभं रतिमरतिंमरणंचजीवितंच ।
विधिनियतमवेक्ष्यतत्त्वतोऽहं व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि॥

अजगर ऋषि कहते हैं कि—यह मिला यह मिलेगा इस प्रकारकी तृष्णा से दबाये हुए पुष्कल धन जिसको नहीं मिला ऐसे पुरुषको तत्त्वबुद्धिसे भली भांति दुःखित जान बूझ कर इस अविनाशी व्रतका सेवन करता हूं। धनादि पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये बहुत प्रकारसे आर्य्यको कृपण अनार्य्य धनीका आश्रय लेता हुआ देखकर तथा शान्तिमें रुचि रखने वाला अन्तःकरणको वशीभूत करता हुआ शान्तिशील मैं इस अपने अविनाशीव्रतका सेवन करता हूं। मैं वस्तुतः सुख, दुःख, हानि, लाभ, रति-प्रीति, अरति—उदासीनता मरण और जन्मको प्रारब्धाधीन स्वभावसे आगमापायी देखकर भी इस अपने अविनाशी व्रतका सेवन करता हूं ॥ २८ । ३० ॥

मनुष्योंको चाहिये कि लोभियोंको दिन रात धन प्राप्तिकी तृष्णासे दबाया हुआ प्रायः दुःख भोगते हुओंकी अधोगतिको तथा अनार्य कंजूस धनियोंकी खुशामद धन लाभार्थ आर्योंको करते देखकर और सुखदुःखादिकी

प्राप्तिको पूर्व किये नियत विपाककर्मानुसार अवश्य होने वाली देखकर संसारसे उदासीन रहकर परमार्थमें मन लगाना चाहिये ॥

अपगतभयरागमोहदर्पो धृतिमतिबुद्धिसमन्वितःप्रशान्तः ।
उपगतफलभोगिनोनिशम्य व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि॥३१॥
अनियतशयनाशनःप्रकृत्या दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः ॥
अपगतफलसंचयःप्रहृष्टो व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि ॥३२॥
अपगतमसुखार्थमीहनार्थै-रुपगतबुद्धिरवेक्ष्यचाऽत्मसंस्थम् ।
तृषितमनियतंमनोनियन्तुं व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि॥३३
नहृदयमनुरुध्यवाङ्मनोवा प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च ।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं व्रतमिदमाजगरंशुचिश्चरामि ॥ ३४॥

अजगर ऋषि कहते हैं कि—मैं भय, राग मोह और अहंकारको छोड़कर धैर्यवती बुद्धिसे युक्त होकर अत्यन्त शान्त हूं। प्राप्त हुए फलको भोगनेवाले प्राणियोंको जान बूझकर इस अविनाशीव्रतको पवित्रता पूर्वक सेवन करता हूं। मैं अपने स्वभावके भोजन शयन नियत नहीं रखता तथा दम, नियम व्रत, सत्य और शौचसे युक्त हूं तथा भोजनादिके लिये फलादिका संचय नहीं करता हुआ प्रसन्नता पूर्वक पवित्रतासे इस अपने अविनाशीव्रतका सेवन करता हूं। बुद्धिको प्राप्त करके सबको आत्मामें स्थित देखता हुआ इन्द्रियोंकी चेष्टासे होने वाले दुःख भोगार्थ प्रवृत्त बुरी दशामें जाने वाले इस चञ्चल तृष्णा वाले मनको वशमें करने के लिये इस अविनाशी व्रतका सेवन करता हूं! मैं प्रिय सुखको दुर्लभ तथा उसकी अनित्यता जानता हुआ हृदय मन और वाणीकी कामना पूर्ण न करके अर्थात् इनका अनुगामी न होकर अपने अविनाशीव्रतका सेवन करता हूं॥ ३१ ३४॥

मनुष्यको चाहिये कि एकान्तमें बैठकर ऐसा विचार सदा किया करे कि मैं भयादि रहित शान्त होकर परमार्थव्रतका सेवन करूं मनमें शुभ वा अशुभका दृढ़ संकल्प करना ही मनुष्यके सुधार विगाड़का मूल हेतु है॥

बहुकथितमिदंहिबुद्धिमद्भिः कविभिरभिप्रथयद्भिरात्मकीर्त्तिम्
इदमिदमितितत्रतत्रतत् स्वपरमतैर्गहनंप्रतर्कयद्भिः ॥३५॥
तदहमनुनिशम्यविप्रपातं पृथगभिपन्नमिहाबुधैर्मनुष्यैः ।
अनवसितमनन्तदोषपारं नृपुविचरामिविनीतदोषतृष्णः॥३६॥

अजगर ऋषि कहते हैं कि--अपनी कीर्त्तिको विस्तृत तथा अपने पराये मतोंसे कठिन २ तर्क करते हुए बुद्धिमान् कवियोंने वहां २ वह २ विषय बहुत प्रकारसे कहा है तथा पुष्ट किया है कि यह ठीक वा यह ठीक है। उस को मैं जानता हूं परन्तु मूर्खोंके जाननेसे वह दूर है तथा अनिश्चित और अनन्त दोष वाला समझा गया है इस विरुद्ध गिरने (पात) को जानकर दोष तृष्णाको छोड़ता हुआ मनुष्योंमें समभावसे विचरता हूं ॥ ३५-३६ ॥

अभिप्राय यह कि बहुतसे व्याख्यानरूप ग्रन्थोंसे मनुष्यको सारग्राही होना चाहिये। जिसको सारांश समझनेकी शक्ति नहीं वह बहुतसे लेखसे कुछ फल प्राप्त नहीं करपाता और सारग्राही हुए विना परमार्थकी ओर भी नहीं चल पाता और न धर्मका मर्म जान पाता है॥

भीष्मउवाच–अजगरचरितंव्रतंमहात्मा यइहनरोऽनुचरेद्विनीतरागः। अपगतभयलोभमोहमन्युः सखलुसुखीविचरेदिमंविहारम् ॥ ३७ ॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं कि हे युधिष्ठिर ! इस संसारमें जो रागादिको छोड़कर महात्मा पुरुष अजगर ऋषिके किये व्रतका सेवन करे वह भय, लोभ, मोह और क्रोधको छोड़कर परमानन्दको प्राप्त होजावे ॥ ३७ ॥

इति शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि प्रह्लादाजगरसंवादे १७९ तमोऽध्यायः ॥

शृगालगीता ॥

युधिष्ठिरउवाच-बान्धवाःकर्मवित्तंवा प्रज्ञावेहपितामह !॥
नरस्यकाप्रतिष्ठास्या-देतत्पृष्टोवदस्वमे ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिर भीष्म जी से पूछते हैं कि-हे पितामह ! इस संसारमें १ बान्धव, २ कर्म, ३ धन, ४ प्रज्ञा- [अच्छी समझ] इन चारोंमेंसे कौनसा पदार्थ मनुष्यकी प्रतिष्ठा [उत्तमस्थिति] का हेतु है ? मैं यह आपसे पूछता हूं कृपाकर मुझसे कहिये ॥

भीष्मउवाच-प्रज्ञाप्रतिष्ठाभूतानां प्रज्ञालाभःपरोमतः।
प्रज्ञानिःश्रेयसीलोके प्रज्ञास्वर्गोमतःसताम् ॥ २ ॥
प्रज्ञयाप्रापितार्थोहि बलिरैश्वर्यसंक्षये ।
प्रह्लादोनमुचिर्मङ्कि-स्तस्याःकिंविद्यतेपरम् ॥ ३ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीम-मितिहासंपुरातनम् ।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोधयुधिष्ठिर ! ॥ ४ ॥
वैश्यःकश्चिदृषिसुतं काश्यपंसंशितव्रतम् ।
रथेनपातयामास श्रीमान्दृप्तस्तपस्विनम् ॥ ५ ॥
आर्त्तःसपतितःक्रुद्ध स्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत् ।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थोनविद्यते ॥ ६ ॥
तथामुमूर्षुमासीन=मकूजन्तमचेतसम् ।
इन्द्रःशृगालरूपेण बभाषेक्षुब्धमानसम् ॥ ७ ॥

भीष्म जी उत्तर देते हैं कि हे युधिष्ठिर ! प्राणियों=मनुष्योंकी प्रतिष्ठा उत्तम स्थितिका हेतु एक मात्र प्रज्ञा है प्रज्ञाका लाभ बड़ा माना गया है। संसारमें निरन्तर कल्याणका स्थान स्वर्ग और सत्पुरुषोंका मत प्रज्ञा ही है। ऐश्वर्यका नाश होनेपर बलि, प्रह्लाद नमुचि और मङ्कि प्रज्ञासे ही कृतार्थ हो गये। [जिनमें प्रह्लाद और मङ्किका इतिहास इसी पुस्तकमें आगया है] इस कारण प्रज्ञासे परे=उत्कृष्ट प्रतिष्ठाका हेतु दूसरा कोई नहीं है। ऐतिहासिक जन-इस विषयमें एक पुराना इतिहास कहते हैं जो कि—इन्द्र और

काश्यपके संवाद नामसे प्रसिद्ध है। उसे तुम समझो सुनो—किसी अभिमानी श्रीमान् वैश्यने प्रशंसित व्रतधारी ऋषिपुत्र तपस्वी काश्यप को अपने रथसे गिरा दिया था वह काश्यप ऋषिपुत्र गिरा देनेसे हुए अपमानके कारण दुःखित और कुपित होकर शरीर छोड़नेकी इच्छासे बोला कि—मैं मर जाऊंगा मुझ निर्धनका जीवन व्यर्थ है इस प्रकार मरनेकी इच्छा वाले, बैठे हुए, मूढ, क्रुद्ध और चिल्लाते हुए, काश्यपसे शृगालकारूप धारण कर इन्द्रदेवने कहा॥२-७॥

प्रकृष्ट ज्ञान वा उत्तम ज्ञान, जो मिथ्याज्ञानका पूरा विरोधी है जिसके होनेपर मिथ्याज्ञानरूप हृदयका अज्ञानान्धकार नष्ट होजाता है उसी तत्त्व बोधका नाम यहां प्रज्ञा है ऐसे ज्ञानके प्राप्त होने पर ही मनुष्य स्वस्थ शान्ति दशामें ठहर सकता है। इसी ज्ञानकी प्राप्तिमें प्रह्लाद और मङ्कि आदि दुःखों से छूट गये। इसी ज्ञानके न होने से कश्यपगोत्री ऋषिपुत्रको महा दुःख हुआ और उपदेश मिलनेपर शान्ति सुख उसे मिला॥

शृगालउवाच—मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानिसर्वशः।
मनुष्यत्वेचविप्रत्वं सर्वएवाभिनन्दति ॥ ८ ॥
मनुष्योब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चासिकाश्यप!।
सुदुर्लभंतवाप्येतन् नदोषान्मर्त्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
सर्वेलाभाःसाभिमाना इतिसत्याचतेश्रुतिः।
सन्तोषणीयरूपोऽसि लोभाद्यदभिमन्यसे ॥ १० ॥
अहोसिद्धार्थतातेषां येषांसन्तीहपाणयः।
अतीवस्पृहयेतेषां येषांसन्तीहपाणयः ॥ ११ ॥
पाणिमद्भ्यःस्पृहास्माकं तथातवधनस्यवै।
नपाणिलाभादधिको लाभःकश्चनविद्यते ॥ १२ ॥

शृगाल रूपधारी देवराज इन्द्र बोले कि—हे काश्यप! सर्वत्र सब प्राणी मनुष्ययोनिको चाहते हैं और मनुष्यपनमें भी सब कोई ब्राह्मणपनकी प्रशंसा करते हैं। तुम मनुष्य ब्राह्मण और श्रोत्रिय वेदपाठी हो तुमको तीनों बातें अत्यन्त दुर्लभ प्राप्त होगई हैं अतः तुम दोषसे मरनेके योग्य नहीं हो। अभिमानको आगे करके सब लाभ प्राप्त किये जाते हैं यह कदाचित् तुमने सत्य श्रवण किया होगा तुम्हारा रूप सन्तोष करने योग्य है तथापि तुम लोभसे अभिमान करके लाभ करना चाहते हो। ओ हो! वे पुरुष अत्यन्त कृतार्थ

हैं जिनके हाथ विद्यमान हैं। मैं उनकी योनिमें वा उनमें अत्यन्त चाहना रखता हूं जिनके हाथ हैं जैसे हमें हाथ वालोंसे चाहना है वैसे ही तुम्हें धन की स्पृहा–चाह है संसारमें हाथोंके लाभसे अधिक कोई लाभ नहीं है।८-१२॥

मनुष्यको अप्राप्त धनादि पदार्थोंके न मिलनेका दुःख जब दबावे तब उसको चाहिये कि अपनी दशाओंको सोचे जो कि अपनेसे निकृष्ट कोटिके मनुष्यादिके निकट सुखका सामान नहीं है और अपने समीप उनसे सहस्रों गुणे सुखके साधन अधिक हैं इस विचारको चित्त में स्थान देवेगा तो अप्राप्त पदार्थोंका दुःख न सतावेगा किन्तु परम सन्तोष प्राप्त होकर ईश्वर को धन्यवाद देगा॥

अपाणित्वाद्वयंब्रह्मन्! कण्टकंनोद्धरामहे।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतोनकपामवा॥ १३॥
अथयेषांपुनःपाणी देवदत्तौदशाङ्गुली।
उद्धरन्तिकृमीनङ्गाद् दशतोनिकषन्तिच॥ १४॥
वर्षाहिमातपानांच परित्राणानि कुर्वते।
चैलमन्नंसुखंशय्यां निवातंचोपभुञ्जते॥ १५॥
अधिष्ठायचगांलोके भुञ्जतेवाहयन्तिच।
उपायैर्बहुभिश्चैव वश्यानात्मनिकुर्वते॥ १६॥
येखल्वजिह्वाःकृपणा अल्पप्राणाअपाणयः।
सहन्तेतानिदुःखानि दिष्ट्यात्वंनतथामुने!॥ १७॥

देवराज फिर कहते हैं कि हे ब्राह्मण! हाथ वाले न होनेके कारण हम अपने शरीरमें लगे कण्टकको खींच नहीं सकते तथा काटते हुए छोटे जन्तुओं को पकड़कर दूर नहीं कर सकते हैं यह अत्यन्त दुःखका स्थान है। और परमेश्वरके दिये हुए दश अंगुल वाले दो हाथ जिनके होते हैं वे शरीर से कांटा आदि निकालते और शरीरमें काटते हुए कीड़ोंको दूर कर देते हैं तथा वर्षा, जाड़ा घामसे बचनेके लिये परित्राण–वस्त्र, घर आदि बना लेते हैं और वस्त्र अन्न, सुख, शय्या और सुन्दर निवातस्थानादि का भोग करते हैं। बैलके ऊपर अपना अधिकार करके उसको गाड़ी आदिमें जोतते हैं तथा गौ के दुग्ध को भोगते हुए सुख से काल बिताते हैं। और बहुत उपायों से अन्य प्राणियों को अपने वश में कर लेते हैं। हे मुने! जो जिह्वा रहित दीन बिना हाथ वाले हैं वे अनेक दुःखों को सहते हैं। तुम उन दुःखों को नहीं सहते तो तुम अच्छे हो १३-१७॥

पश्वादिकी अपेक्षा मनुष्यके शरीर में हाथ आदि सुखके साधन अधिक अवश्य हैं। मनुष्य हाथ आदि के द्वारा जितनी अधिक अपनी रक्षा कर सकता है उतनी रक्षा पशु कदापि नहीं कर सकता इसी कारण पश्वादि तिर्य्योनियों से मनुष्ययोनि श्रेष्ठ मानी जाती है। हम को अच्छे प्रारब्धानुसार पश्वादिसे अति उत्तम मनुष्य शरीर मिला इसका ईश्वर को वार २ धन्यवाद देवें और इस मनुष्य शरीर से ही परमार्थ हो सकता है कि जिस के सिद्ध होने पर त्रिलोकी का राज्य भी तुच्छ ठहर जाता है इस से परमार्थ को नहीं भूलना चाहिये ॥

दिष्ट्यात्वंनशृगालोऽसि नकृमिर्नचमूषिकः।
नसर्पोनचमण्डूको नचान्यःपापयोनिजः ॥ १८ ॥
एतावतापिलाभेन तोष्टुमर्हसिकाश्यप!।
किंपुनर्योऽसिसत्त्वानां सर्वेषांब्राह्मणोत्तमः ॥१९॥
इमेमांकृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणायवै।
नास्तिशक्तिरपाणित्वात् पश्यावस्थामिमांमम ॥२०॥
अकार्य्यमितिचैवेमं नात्मानंसंत्यजाम्यहम्।
नातःपापीयसींयोनिं पतेयमपरामिति ॥ २१ ॥
मध्येवैपापयोनीनां शार्गालींयामहंगतः।
पापीयस्योबहुतरा इतोऽन्याःपापयोनयः ॥ २२ ॥

शृगाल रूपधारी देवराज इन्द्र ब्राह्मण से कहते हैं कि हे काश्यप! जन्मान्तरीय शुभ कर्मों के प्रताप से तुम—शृगाल, कृमि, मूषिक, सर्प, मण्डूक आदि कोई पापयोनिज नहीं हो। इतने ही लाभ से तुम को सन्तोष करना चाहिये, तिस पर भी तुम सब प्राणियों से उत्तम ब्राह्मणों में भी उत्तम ब्राह्मण हो अतः परमसन्तोष का स्थान है। मुझ को ये कृमि—खसोटते खसोटते काटते खाते हैं परन्तु हाथ न होने के कारण इन को दूर करने की शक्ति मुझ में नहीं है। हे काश्यप! तुम ध्यानपूर्वक मेरी दीन हीन अवस्था-दशा को देखो। मैं इस शृगाल सम्बन्धी शरीर को अधारणीय समझ कर भी त्यागता नहीं हूं क्योंकि आत्मघात-आत्महत्या शरीरत्याग रूप पाप से इस शृगालयोनि से भी अधमयोनि को प्राप्त हो जाऊं ऐसी सम्भावना है। पाप

योनियोंके बीच इस शृगालयोनि को मैं प्राप्त हुआ हूं इस से भी अत्यन्त नीची अन्य पापयोनि वहुत हैं ॥ १८--२२ ॥

यदि किसी मार्ग पर शृगालादि मृग आजावे और वहां कोई रथ गाड़ी आदि आती हो तो शृगालादि वहांसे भाग कर अपनी रक्षा करलेगा । परन्तु चीटी आदि अनेक कृमि मरने से अत्यन्त डरते हुए भी भाग कर अपने को बचा नहीं सकते किन्तु गाड़ी आदि से पिचकर बड़े दुःख से फड़फड़ा कर मरजाते हैं । इस कारण शृगालादि की अपेक्षा कृमि कीटादि योनि अत्यन्त अधोगति में हैं । इस प्रकार जब शृगालादि भी सहस्रों योनियों से अच्छे सुखी हैं तो मनुष्य कितना अधिक अच्छा हो सकता है यह शोचने वाले जान लेंगे ऐसी दशा में मनुष्य अपनी जातीय उत्तमता को ध्यान में रखता हुआ भूलमें न रहे किन्तु अपने कल्याणका उपाय भी इसी विद्यमान शरीर में अवश्य करे ॥

जात्यैवैकेसुखितराः सन्त्यन्येभृशदुःखिताः ।
नैकान्तंसुखमेवेह क्वचित्पश्यामिकस्यचित् ॥२३॥
मनुष्याह्याढ्यतांप्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद्देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ॥२४॥
भवेस्त्वंयद्यपित्वाढ्यो नराजानचदैवतम् ।
देवत्वंप्राप्यचेन्द्रत्वं नैवतुष्येस्तथासति ॥२५ ॥
नतृप्तिःप्रियलाभेऽस्ति तृष्णानाद्भिःप्रशाम्यति ।
संप्रज्वलतिसाभूयः समिद्भिरिवपावकः ॥ २६ ॥
अस्त्येवत्वयिशोकोऽपि हर्षश्चाऽपितथात्वयि ।
सुखदुःखेतथाचोभे तत्रकापरिदेवना ॥२७॥

शृगाल रूप देवराज फिर बोले कि—हे ब्राह्मण ! कोई तो जाति से अपने को अतिसुखी मानते और कोई जाति से ही अपने को अतिदुःखी मानते हैं इससे मैं किसी को कहीं सर्वदा सुखी नहीं देखता हूं । मनुष्य धनाढ्य होने के पश्चात् राज्य चाहते, राज्य प्राप्त होने के पीछे देवत्व और देवत्व के पश्चात् इन्द्र होना चाहा करते हैं । मानलो कि तुम धनाढ्य होजाओ परन्तु राजा और देव नहीं हो सकते । कल्पना करो कि राजा और राजा

से देव तथा देव से इन्द्र होजाओ परन्तु तुम्हें सन्तोष कदापि न मिलेगा। क्योंकि प्रिय वस्तुओंके लाभमें किसीकी तृप्ति होती ही नहीं है और तृष्णा [चाह] जलादि पदार्थोंसे शान्त नहीं होती है किन्तु वह भोगों से अत्यन्त बढ़ती है जैसे समिधाओं से अग्नि बढ़े। हे काश्यप! तुम्हारे भीतर दोनों हर्ष शोक और सुख दुःख जब विद्यमान हैं तब दुःख—पश्चात्ताप-घृणा ही किस बातकी है क्योंकि धनप्राप्त होनेपर भी दोनों ही बने रहेंगे॥ २३—२७॥

संसारमें केवल सुख कहीं है ही नहीं तो किसीको सुख ही प्राप्त कैसे हो सकता है?। सभी सुखोंके साथ जो दुःख व्याप्त होरहे हैं सो सर्वसाधारण के ध्यानमें नहीं जंचते किन्तु समाधिस्थ तत्त्वज्ञ पुरुषोंको यह साक्षात् दीखने लगता है कि अन्नमें विषके समान सब विषय सुखोंमें दुःख मिश्रित हो रहा है। इसीसे वे लोग विषय सुखोंकी भोग तृष्णाको छोड़के विरक्त होजाते हैं। विषय दुखोंसे रहित हैं ही नहीं इसीसे विषयभोगाभिलाषी कोई पुरुष सर्वथा सुखी नहीं है॥

परिच्छिद्यैवकामानां सर्वेषांचैवकर्मणाम्।
मूलंबुद्धीन्द्रियग्रामं शकुन्तानिवपञ्जरे॥ २८॥
नद्वितीयस्यशिरस-श्छेदनंविद्यतेक्वचित्।
नचपाणेस्तृतीयस्य यन्नास्तिनततोभयम्॥ २९॥
नखल्वप्यरसज्ञस्य कामःक्वचनजायते।
संस्पर्शाद्दर्शनाद्वापि श्रवणाद्वापिजायते॥ ३०॥
नत्वंस्मरसिवारुण्या नड्वाकानांचपक्षिणाम्।
ताभ्यांचाभ्यधिकोभक्ष्यो नकश्चिद्विद्यतेक्वचित्॥ ३१॥
यानिचान्यानिभूतेषु भक्ष्यजातानिकाश्यप!।
येनामभुक्तपूर्वंते तेषामस्मृतिरेवच॥ ३२॥

जो पुरुष-अपनी सब अभिलाषा और सब कर्मोंको समाप्त करदेता तथा मूल ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें (इस प्रकार करलेता है जैसे कोई शुक आदि पक्षियोंको पींजरेमें) करलेवे वही पुरुष सुखका भागी होता है। कहीं नहीं सुना कि अमुक पुरुष वा प्राणीका दूसरा शिर काटा गया है तथा यह भी श्रोत्रगत नहीं हुआ है कि किसी प्राणीका तीसरा हाथ काटा गया हो वा

कटे इससे सिद्ध हुआ कि जो नहीं है उससे भय नहीं होता। जो पुरुष रस नहीं है उसको देखने, सुनने और छूने से भी काम अभिलाषा नहीं होती। तुम वारुणी और लड्डुक पक्षियोंके स्वादको नहीं जानते हो क्योंकि उन दोनोंके रससे अनभिज्ञ हो। उक्त दोनोंको खानेवाले कहते हैं कि कहीं भी उक्त दोनोंसे उत्तम भक्ष्य नहीं है। हे काश्यप! भूतोंमें जो बहुतसे भक्ष्य हैं परन्तु जिनका तुमने स्वाद नहीं लिया है उन का तुम को स्मरण भी नहीं है॥ २८–३२॥

जिन विषयोंका हमको स्मरण है कि उनमें ऐसा सुख मिलेगा उन्हीं कामसुखके वा धनादिजन्य सुखके लिये हम लोग दिन रात भाग रहे हैं। और अनेक बड़े छोटे सुख वा विषय ऐसे हैं जिनका लेशमात्र भी हमको स्मरण नहीं, इसीके अनुसार यदि इन विषयोंका भी स्मरण न होता व न रहे अथवा हम लोग इन्द्रियोंको विषयोंसे पृथक् रखकर धीरे २ विषय वासनाओंको भुला देवें तो स्वयमेव भूले हुए विषयोंसे भी हमको हर्ष शोक कुछ न हो। यही जीवन्मुक्त दशा है॥

अप्राशनमसंस्पर्श–मसंदर्शनमेवच।
पुरुषस्यैत्रनियमो मन्येश्रेयोनसंशयः॥ ३३॥
पाणिमन्तोबलवन्तो धनवन्तोनसंशयः।
मनुष्यामानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः॥ ३४॥
वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्तिचपुनःपुनः।
तेखल्वपिरमन्तेच मोदन्तेचहसन्तिच॥ ३५॥
अपरेबाहुबलिनः कृतविद्यामनस्विनः।
जुगुप्सितांसुकृपणां पापवृत्तिमुपासते॥ ३६॥
उत्सहन्तेचतेवृत्ति–मन्यामप्युपसेवितुम्।
स्वकर्मणानुनियतं भवितव्यंतुतत्तथा॥ ३७॥

देवराज इन्द्र कहते हैं कि–हे काश्यप! खाना देखना और छूना इन तीनोंके त्यागका नियम पुरुषके लिये नियम है और मैं जानता हूं कि पुरुषके लिये उन तीनोंका त्याग परम कल्याणकारी है इसमें कोई संशय नहीं मनुष्योंने ही बहुतसे हाथ वाले बलवान् धनी पुरुषोंको दास बना रक्खा है, वे मनुष्य दास वध, बन्धनादिके क्लेशोंसे क्लेश भी पाते हैं परन्तु वार२

क्लेश पाते हुए भी क्रीडा करते, प्रसन्न होते और हंसते हैं। दूसरे बाहुबली, विद्वान् और मनस्वी पुरुष अतिनिन्दित दीन हीन पापवृत्ति--सेवाको करते हैं। और वे अन्य सेवावृत्तिको भी सेवन करनेके लिये उत्साह करते हैं यह सब अपने २ कर्मों का फल है और वैसा ही होना चाहिये ॥ ३३-३७ ॥

मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंका दास सेवक उपासक न हो किन्तु इन्द्रियों को वशीभूत कर सके तो वह किसीका दास न रहे और सब बड़े २ लोग उस से दबने लगें। पराधीनता ही मनुष्यके लिये सर्वोपरि दुःख है और विषय भोगका लालच ही पराधीनताका प्रधान कारण है। इस लिये जो कोई पराधीनताके दुःखसे बचना चाहे वह प्रथम विषय सुख भोग के संकल्पों को शिथिल करे ॥

नपुक्कशोनचाण्डाल आत्मानंत्यक्तुमिच्छति ।
तयातुष्टःस्वयायोन्या मायांपश्यस्वयादृशीम् ॥ ३८ ॥
दृष्ट्वाकुणीन्पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः ।
सुखपूर्णःस्वयायोन्या लब्धलाभोऽसिकाश्यप ! ॥ ३९ ॥
यदिब्राह्मणदेहस्ते निरातङ्कोनिरामयः ।
अङ्गानिचसमग्राणि नचलोकेषुधिक्कृतः ॥ ४० ॥
नकेनचित्प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा ।
धर्मायोत्तिष्ठविप्रर्षे नात्मानंत्यक्तुमर्हसि ॥ ४१ ॥
यदिब्रह्मशृणोष्येत-च्छ्रद्दधासिचमेवचः ।
वेदोक्तस्यैवधर्मस्य फलंमुख्यमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥

देवराज इन्द्र कहते हैं कि--हे काश्यप ! कंजर और चाण्डाल भी अपने शरीरको नहीं त्यागता किन्तु वह अपनी योनिसे सन्तुष्ट रहता है। देखो यह कैसी विचित्र लीला है। जिनका पक्ष कोई नहीं करता ऐसे कुणि टूंटा--अङ्गहीन रोगी मनुष्योंको देखो। तुम अपनी योनिमें सुखसे पूर्ण हो तुमको लाभ प्राप्त है इससे तुम्हारा शरीर त्याग करना व्यर्थ है। हे ब्राह्मण ! यदि तुम्हारा देह भय रोग रहित तथा शरीरावयव प्रसन्न और लोकमें तुम्हारा अपवाद नहीं है तो हे ब्रह्मर्षे ! शरीर त्याग मत करो प्रत्युत सम्हल कर धर्म के लिये उठो। हे ब्राह्मण ! यदि तुम मेरे वचनको सुनते तथा उसमें श्रद्धा

रखते हो मेरे कथनानुसार कार्य्य करो तो तुमको वेदोक्त कर्म धर्मका मुख्य फल प्राप्त होगा ॥ ३८-४२ ॥

अन्य अनेक पापोंसे बड़ा आत्मघात पाप है । आत्मघात करने-अपने आप मर जाने वाला मनुष्य विद्यमान योनिसे भी और अधोगतिको जन्मान्तरमें भोगता वा पाता है। मनुष्य अपनेको अत्यन्त अधम समझता हुआ ही आत्मघात करता है । यही अधम होनेकी वासना ही अधोगतिका कारण होती है । धर्म, ज्ञान और वैराग्यके सामान जिसके हृदय में अधिक २ स्थान पाते जाते हैं वह कदापि आत्मघात नहीं करता । इससे आत्मघात निकृष्ट है ॥

स्वाध्यायमग्निसंस्कार-मप्रमत्तोऽनुपालय ।
सत्यंदमंचदानंच स्पर्द्धिष्ठामाचकेनचित् ॥ ४३ ॥
येकेचनस्वाध्ययनाः प्राप्नायजनयाजनम् ।
कथंतेवानुशोचेयु-र्ध्यायेयुर्वाप्यशोभनम् ।
इच्छन्तस्तेविहाराय सुखंमहद्वाप्नुयुः ॥ ४४ ॥
उतजाताःसुनक्षत्रे सुतिथौसुमुहूर्त्तजाः ।
यज्ञदानप्रजेहायां यतन्तेशक्तिपूर्वकम् ॥ ४५ ॥
नक्षत्रेष्वासुरेष्वन्ये दुस्तिथौदुर्मुहूर्त्तजाः ।
संपतन्त्यासुरींयोनिं यज्ञप्रसववर्जिताः ॥ ४६ ॥

इन्द्र कहते हैं कि-हे काश्यप ! तुम-वेदाध्यन, अग्निहोत्रका पालन-सेवन सावधानतासे भूल प्रमाद छोड़के करो तथा सत्य, इन्द्रिय जय करते हुए किसीसे ईर्ष्या मत करो । जो कोई वेदको पढ़ते हुए यजन याजन करते हैं उनको कदापि शोक तथा बुरा ध्यान विचार न करना चाहिये । यदि वे सुधर्मी विहार संसारी सुखके लिये इच्छा करें तो वड़े सुखको प्राप्त हो सके हैं । जो पुरुष शुभ नक्षत्र तिथि और मुहूर्त्तमें उत्पन्न हुए हैं वे यज्ञ दान और प्रजाके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं । और जो पुरुष बुरे नक्षत्र तिथि और मुहूर्त्त में उत्पन्न हुए हैं वे यज्ञादि न करते हुए आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं ॥ ४३-४६ ॥

मनुष्योंको सब दशामें वेदोक्त कर्म ही सुख देने वाला है इस लिये इस उत्तम मार्गकोन छोड़े । तथा धर्मात्मा पुण्यात्मा सुहृद् विद्वानोंसे जो जन्मसे

ही शुद्ध हैं सदा मेल प्रीति रक्खे सत्सङ्ग करे आसुरी सम्पत्ति वाले अधर्मी ऊपरसे बनावटी मुख देखी बातें करने वालोंसे सदा अलग रहै इस प्रकार जिसका जीवन व्यतीत होता हो वह परम सुखका भागी हो सकता है ॥

अहमासंपण्डितको हैतुकोवेदनिन्दकः ।
आन्वीक्षिकींतर्कविद्या–मनुरक्तोनिरर्थिकाम् ॥ ४७ ॥
हेतुवादान्प्रवदिता वदितासंसत्सुहेतुमत् ।
आक्रोष्टाचातिववताच ब्रह्मवाक्येषुवैद्विजान् ॥ ४८ ॥
नास्तिकःसर्वशङ्कीच मूर्खःपण्डितमानिकः ।
तस्येयंफलनिर्वृत्तिः शृगालत्वंममद्विज ! ॥ ४९ ॥
अपिजातुतथातस्मा--दहोरात्रशतैरपि ।
यदहंमानुषींयोनिं शृगालःप्राप्नुयांपुनः ॥ ५० ॥
सन्तुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतः ।
ज्ञेयज्ञाताभवेयं च वर्ज्यवर्जयितासदा ॥ ५१ ॥

शृगाल रूपधारी इन्द्र कहते हैं कि–मैं मनुष्ययोनिमें पूर्व--पण्डित, हैतुक और वेदनिन्दक–नास्तिक था और तर्कप्रधान न्यायविद्यामें व्यर्थ ही प्रेम रखता था। कारणवादोंको कहने वाला, सभाओंमें प्रबलताके साथ पूर्वपक्षों का कारणवादसे खण्डन करता तथा वेदवाक्योंमें ब्राह्मणोंका उपहास करता हुआ उनको परास्त करदेता था। नास्तिक, सर्वशङ्की, मूर्ख और अपनेको पण्डित मानता था हे ब्राह्मण ! उसीका फल यह मुझे शृगालयोनि प्राप्त हुई है। हे ब्राह्मण ! यदि मैं सैकड़ों दिन रातके पश्चात् भी कदाचित् शृगालयोनिसे मनुष्ययोनिको फिर प्राप्त हो जाऊं तो सन्तुष्ट और अप्रमत्त होकर यज्ञ, दान, तप, में तत्पर हुआ आत्मादिका ज्ञान प्राप्त करूं और वर्जनीयका त्याग करदूंगा तथा फिर नीचयोनिमें लानेवाले कर्मोंको कदापि न करूंगा ॥४७-५१॥

वेदमतानुयायी या आस्तिक होनेका मुख्य आशय यह है कि परोक्षपर विश्वास हो-केवल प्रत्यक्ष और अनुमानका सहारा न लेवे वेदको स्वतः प्रमाण माने। वेदमें कहा विषय तर्कानुकूल समझमें न आवे तो भी तर्कके द्वारा उसकी ओर अरुचि न करे ॥

ततःसमुनिरुत्थाय काश्यपस्तमुवाचह ।
अहोबतासि कुशली बुद्धिमांश्चेतिविस्मितः ॥ ५२ ॥

समवैक्षततंविप्रो ज्ञानदीर्घेणचक्षुषा ।
ददर्शचैनंदेवानां देवमिन्द्रंशचीपतिम् ॥ ५३ ॥
ततःसंपूजयामोस काश्यपोहरिवाहनम् ।
अनुज्ञातस्तुतेनाथ प्रविवेशस्वमालयम् ॥ ५४ ॥

पश्चात् यह काश्यप मुनि उठकर शृगाल रूपधारी इन्द्रसे निश्चित हुआ बोला कि ओहो ! ! तुम बड़े बुद्धिमान् और चतुर हो पश्चात् काश्यप ब्राह्मण ने ज्ञानसे दीर्घ चक्षु (योगाभ्यास रीति) से उस शृगाल रूपधारी इन्द्रको देखा और जाना कि ये तो देवोंके देव शचीपति इन्द्र हैं । पीछे काश्यपने इन्द्रकी पूजा की और इन्द्रकी आज्ञासे अपने घरको चलागया ॥ ५२--५४ ॥

इति शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शृगाल काश्यप संवादे १८० तमोऽध्यायः ॥

सबको सारांश यह है कि मनुष्य धनादिकी अधिक तृष्णाको छोड़े । तृष्णाके रहनेपर भी अप्राप्तिके दुःखसे संतप्त न हो संसारकी उच्चःनीच दशा कर्मानुसार देखता हुआ अपनेसे नीचोंकी अपेक्षा अपनेको उत्तम कक्षामें मानता हुआ सन्तोषके साथ श्रुतिस्मृति पुराणोक्त धर्मका श्रद्धा सहित सेवन करे । जैसे रोगकी चिकित्सा शीघ्र करनेसे दुःख निवृत्त होता वैसे प्रकृष्ट बुद्धि की प्राप्तिसे संसारी दुःखोंको हटाना चाहिये ॥

इति शृगालगीता समाप्ता ॥

अथ षड्जगीतारम्भः ।

इत्युक्तवतिभीष्मेतु तूष्णींभूतेयुधिष्ठिरे ।
पप्रच्छावसथंगत्वा भ्रातॄन्विदुरपञ्चमान् ॥ १ ॥
धर्मेचार्थेचकामेच लोकवृत्तिःसमाहिता ।
तेषांगरीयान्कतमो मध्यमःकोलघुश्चकः ॥२॥
कस्मिंश्चात्मानिधातव्य-स्त्रिवर्गविजयायवै ।
संहृष्टानैष्ठिकंवाक्यं यथावद्वक्तुमर्हथ ॥ ३ ॥
ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः प्रथमंप्रतिभानवान् ।
जगादविदुरोवाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

भा०—पूर्व प्रसंग को कह कर भीष्म जी के चुप हो जाने पर राजा युधिष्ठिर ने अपने घर पर आकर अपने चार भाई और पांचवें विदुर से पूछा कि धर्म अर्थ और काम पर लोगों की प्रवृत्ति चल रही है उन धर्मादि तीनों में उत्तम मध्यम निकृष्ट कौन २ है । इस त्रिवर्ग की प्राप्ति के लिये विशेष कर धर्मादि किस एक पर आरूढ़ होना चाहिये । आप लोग इस विषय में सांगोपांग निचोड़ सिद्धान्त कहिये । तदनन्तर पहिले अर्थ गतिका तत्त्व जानने तथा स्मरण शक्ति वाले विदुर जी धर्मशास्त्र का तत्त्व स्मरण करते हुए निम्न प्रकार से बोले ॥ ४ ॥ इस उपाख्यान का नाम षड्जगीता क्यों हुआ सो भी हम यहीं जताये देते हैं । १-विदुर । २-अर्जुन, ३-नकुल, ४-सहदेव, ५-भीमसेन, ६-युधिष्ठिर इन छः से प्रकट हुआ और गाया नाम कहा गया उपकारी हितोपदेश विषय षड्जगीता कहाया ॥

विदुर उवाच—आहुश्चुत्यंतपस्त्यागः श्रद्धायज्ञक्रियाक्षमा ।
भावशुद्धिर्दयासत्यं संयमश्चात्मसंपदः ॥ ५ ॥
एतदेवाभिपद्यस्व मातेऽभूच्चलितंमनः ।
एतन्मूलौहिधर्मार्था-वेतदेकपदंहिमे ॥ ६ ॥
धर्मेणर्षयस्तीर्णा धर्मेलोकाःप्रतिष्ठिताः ।
धर्मेणदेवाववृधु-र्धर्मेचार्थःसमाहितः ॥ ७ ॥
धर्मोराजन् ! गुरुःश्रेष्ठो मध्यमोह्यर्थउच्यते ।

कामोयवीयानितिच प्रवदन्तिमनीषिणः ॥ ८ ॥
तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यंयतात्मना ।
तथाचसर्वभूतेषु वर्त्तितव्यंयथात्मनि ॥ ९ ॥

भा०-बहुश्रुत होना, तप करना, त्यागी होना, श्रद्धा होना, यज्ञ करना, क्षमा करना, हृदयकी शुद्धि, दया, सत्य और संयम ये सब आत्मसम्पत् हैं। इन सबको अपनी संपत्ति मानना चाहिये । हे युधिष्ठिर ! हे राजन् तुम इसी आत्म सम्पत्‌की रक्षा करो तुम्हारा मन अन्यत्र चलायमान न हो इसी आत्मसंपत् के आश्रय से धर्म तथा अर्थ स्थित हैं और यही सम्पत् हमारा अवलम्ब है। धर्म रूप नौका से ही ऋषि लोग संसार सागर के पार हो गये, धर्मके सहारे से ही संसार की स्थिति है, धर्म से ही देवता बड़े उन्नति को प्राप्त हुए और धर्म के आधीन ही धन संपत्ति है। हे राजन् ! गणना में धर्म पहिला और श्रेष्ठ तथा वजनदार नाम गौरव युक्त है अर्थ मध्यम और काम निकृष्ट कोटि का है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इससे अपने आप को वशीभूत करते हुए आप को धर्म प्रधान होना चाहिये अर्थात् धर्म को सब से बड़ा मानो। और हे राजन् ! सब प्राणियों के साथ वैसा वर्त्ताव करना चाहिये कि जैसा स्वयं अपने साथ अन्यों का वर्त्ताव चाहते हो। यही आत्मप्रिय धर्मका लक्षण सब के लिये सुगम है ॥ ९ ॥

अर्जुन उवाच-कर्मभूमिरियंराजन्निहवार्त्ताप्रशस्यते ।
कृषिवाणिज्यगोरक्षं शिल्पानिविविधानिच ॥१०॥
अर्थइत्येवसर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।
नहृतेऽर्थेनवर्त्तेते धर्मकामावितिश्रुतिः ॥ ११ ॥
विषयैर्ह्यर्थवान्धर्म माराधयितुमुत्तमम् ।
कामंचचरितुंशक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ १२ ॥
अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामावितिश्रुतिः ।
अर्थसिद्धौविनिर्वृत्ता-वुभावेतौभविष्यतः ॥ १३ ॥
तद्गतार्थंहिपुरुषं विशिष्टतरयोनयः ।
ब्रह्माणमिवभूतानि सततंपर्युपासते ॥ १४ ॥
जटाजिनधरादान्ताः पङ्कदिग्धाजितेन्द्रियाः ।
मुण्डानिस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनःपृथक् ॥१५॥

काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुलाह्रीनिषेविणः ।
विद्वांसश्चैवशान्ताश्च मुक्ताःसर्वपरिग्रहैः ॥ १६ ॥
अर्थार्थिनःसन्तिकेचि-दपरेस्वर्गकाङ्क्षिणः ।
कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वंस्वंधर्ममनुष्ठिताः ॥ १७ ॥
आस्तिकानास्तिकाश्चैव नियताःसंयमेपरे ।
अप्रज्ञानंतमोभूतं प्रज्ञानंतुप्रकाशिता ॥१८॥
भृत्यान्भोगैर्द्विषोदण्डैर्योयोजयतिसोऽर्थवान् ।
एतन्मतिमतांश्रेष्ठ मतंममयथायथम् ॥ १९ ॥
अनयोस्तुनिबोधत्वं वचनंवाक्यकण्ठयोः ॥ २० ॥

भावार्थः—अर्जुन कहते हैं कि हे राजन् ! यह संसार कर्म भूमि है, इस जगत्में वार्त्ता नाम पुरुषार्थकी प्रशंसा है, कृषि, वाणिज्य गोरक्षा और अनेक विध शिल्प विद्या रूप कलाकौशलकी उन्नति करनी चाहिये । एक धन के पुष्कल होनेसे प्रायः सभी काम ठीक २ सिद्ध हो जाते हैं । वेदमें कहा है कि धनके बिना धर्म और कामकी सिद्ध नहीं होती इससे धन रूप अर्थ ही मुख्य है । धनवान् पुरुष धनसाध्य विषयोंके द्वारा उत्तम धर्मका सेवन कर सकता है जैसे उपदेशकोंके शब्द रूप विषयके द्वारा धर्मोपदेशका प्रचार करना, अच्छे २ वस्त्रादि दानसे स्पर्शसम्बन्धी उपकार, दर्शनीय रूपवानका दान, अच्छे स्वादिष्ट भोजन ब्राह्मणोंको कराना इत्यादि प्रकार धनसे शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध द्वारा धर्मका उत्तम सेवन हो सकता है । धनके द्वारा वह उत्तम कामभोग प्राप्त हो सकता है कि जो साधारण निर्धन लोगोंको कभी प्राप्त नहीं हो सकता । धर्म तथा काम ये दोनों अर्थके ही अंश वा हिस्से हैं अर्थके होनेपर दोनों धर्म काम सिद्ध हो जाते हैं । जिसके पास पुष्कल धन होता है उसकी अच्छे २ कुलीन वा विद्वान् ऐसे निरन्तर उपासना करते हैं कि जैसे सब प्राणी विधाता ब्रह्माजीको मानते हैं । मृगचर्म और जटाधारी जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी महात्मा विभूति लगाये मनस्वी तपस्वी तथा मुंड़े हुए दिगम्बर संन्यासी गेरुआ कपड़ोंवाले, डाढ़ी मूंछ रखाये शान्त विद्वान् सब धनादिके त्यागी ऐसे लोग भी भोजन वस्त्रादिके लिये धनियोंके घर आते हैं । कोई धनार्थी होते हैं कोई स्वर्गके भोग चाहते, कोई कुल परम्परागत धर्मके प्रेमी होते कोई वेदोक्त धर्म को ही बड़ा कहते मानते हैं आस्तिक नास्तिक दोनों ही धारणा ध्यान समाधिरूप उत्तम संयममें नियत दीखते प्रकृष्ट ज्ञानका न होना

ही अन्धकार और प्रकृष्ट ज्ञान ही मुख्य कर प्रकाश रूप है। जो पुरुष स्त्री पुत्र भृत्यादिका ठीक २ पालन पोषण करता और शत्रुओंको दण्ड देता है वही जानो अर्थवान् वा धनी हैं। हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजन्! यह तो मेरी सम्मति वा राय है। अब आप जिनके कण्ठमें वाक्य आये हुए हैं ऐसे कहने को तयार नकुल सहदेवकी भी राय सुन लीजिये। धर्मावतारका प्रश्न है कि धर्म अर्थ, काम इन तीनोंमें कौन बड़ा तथा मुख्य है इस पर विदुर जी ने धर्मको मुख्य वा श्रेष्ठ कहा और यह भी जताया कि एक धर्मका ही ठीक ठीक सेवन करने पर अर्थ और काम दोनों यथावत् पूर्णरूपसे सिद्ध हो जाते हैं इस लिये धर्मको बड़ा श्रेष्ठ मानना चाहिये क्योंकि एक धर्मसे ही संसार भरके उत्तमसे उत्तम स्वर्गादिके भी अर्थ और कामभोग मनुष्यको प्राप्त हो जाते हैं। श्रेष्ठ होने से ही धर्म पहिले अर्थ बीचमें और काम सबसे पीछे बोला जाता है कि धर्मार्थ काम, व्यासजीने चतुःश्लोकी महाभारतमें कहा है कि (धर्मादर्थश्चकामश्च सकस्मान्ननिषेव्यते) धर्मसे ही जब अर्थ और काम की सिद्धि होती है तो उसी एकका तन मन धनसे सेवन क्यों नहीं किया जाता?। इस प्रकार विदुरजीने धर्मको बड़ा कहा। तदनन्तर उक्त रीतिसे अर्जुनने अर्थ नाम धनको मुख्य कहा और माना है कि जिसके पास धन है वह यज्ञ दानादि बड़े २ धर्मके काम कर सकता है। उत्तम २ स्त्रियां भी धनीको प्राप्त हो सकती हैं इनसे अर्थ मुख्य है अर्थसे धर्म और काम दोनों सिद्ध हो सकते हैं। यह अर्जुनका अभिप्राय हुआ तब नकुल सहदेव बोले। यथा-

आसीनश्चशयानश्च विचरन्नपिवास्थितः।
अर्थयोगंदृढंकुर्या-द्योगैरुच्चावचैरपि ॥ २१ ॥
अस्मिंस्तुवैविनिर्वृत्ते दुर्लभेपरमंप्रिये।
इहकामानवाप्नोति प्रत्यक्षंनात्रसंशयः ॥ २२ ॥
योऽर्थोधर्मेणसंयुक्तो धर्मोयश्चार्थसंयुतः।
तद्धित्वामृतसंवादं तस्मादेतौमतावि॒ह ॥ २३ ॥
अनर्थस्यनकामोऽस्ति तथाऽर्थोऽधर्मिणःकुतः।
तस्माद्‌द्विजतेलोको धर्मार्थाद्योबहिष्कृतः ॥ २४
तस्माद्धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थःसंयतात्मना।
विश्वस्तेषुहिभूतेषु कल्पतेसर्वमेवहि ॥ २५ ॥

धर्मंसमाचरेत्पूर्वं ततोऽर्थंधर्मसंयुतम् ।
ततःकामंचरेत्पश्चात् सिद्धार्थस्यहितत्परम् ॥ २६ ॥

भा०—बैठा, लेटा, चलता और खड़ा हुआ सब हालतोंमें छोटे बड़े उपायों द्वारा धन प्राप्त करनेका दृढ़ प्रबन्धकरे । इस परमप्रिय दुर्लभ धनैश्वर्यकी पुष्कल प्राप्तिका अच्छा सिलसिला हो जानेपर इस संसारमें निःसन्देह प्रत्यक्षमें उत्तमोत्तम भोग प्राप्त हो जाते हैं । जो धन धर्मसे युक्त होता और जो धर्म धनसे युक्त होता है [धन प्राप्त होनेपर उसको दान धर्मादिमें लगाना धन को धर्म से युक्त करना है और वेदाध्ययन वा याजनरूप धर्मसे धनका लाभ होना धर्मको धनसे युक्त करना माना जायगा] यही स्वर्गप्राप्तिका साधन है इससे धर्म अर्थ दोनों श्रेष्ठ माने गये हैं । निर्धनको काम सुख प्राप्त नहीं हो सकता और चोरी वा छल कपटादि करने वाले अधर्मीके पास प्रायः धन भी नहीं रहता इसी कारण धर्म अर्थ दोनोंसे हीन पुरुषसे लोग डरा करते हैं । तिससे यह आया कि अपने आपेमें रहते हुए धर्मको मुख्य मानने वाले मनुष्य को धनप्राप्तिका उपाय करना चाहिये । विश्वासपात्र मनुष्यके सभी काम अच्छे होते हैं इस कारण विश्वासपात्रका संपादन करना आवश्यक है । पहिले शुद्ध अहैतुक धर्मका सेवन करे तदनन्तर धर्मसंयुक्त नाम धर्मके कामोंसे आनेवाले धनसंचयका उद्योग करे और धनादिके प्राप्त हो जाने पर कामसुखकी प्राप्ति के लिये विवाह करे क्योंकि धर्म और अर्थके हुए विना कामकी प्राप्ति सुखदायक कदापि नहीं हो सकती है ॥

तात्पर्य यह है कि नकुल सहदेवकी राय यह है कि तीनोंमें धर्म ही मुख्य है इस कारण धर्मानुष्ठान पूर्वक ही धनसंचयका उद्योग करना चाहिये धनको प्राप्त करना कठिन तथा दुर्लभ है और धर्मानुकूल धन हुए विना सुख मिल नहीं सकता इस कारण सुखार्थीको अर्थरूप धनकी आवश्यकता है । इसके बाद राजा पाण्डुके पुत्र भीमसेन बोले कि—

नाकामःकामयत्यर्थं नाकामोधर्ममिच्छति ।
नाकामः काममाप्नोति तस्मात्कामोविशिष्यते ॥२७॥
कामेनयुक्ता ऋषयस्तपसेतुसमाहिताः ।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाःसुसंयताः ॥२८॥
वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताःस्वाध्यायपारगाः ।
श्राद्धायज्ञक्रियायांच तथादानप्रतिग्रहे ॥२९॥

वणिजःकर्षकागोपाः कारवःशिल्पिनस्तथा ।
दैवकर्मकृतश्चैव युक्ताःकामेनकर्मसु॥३०॥
समुद्रंवाविशन्त्यन्ये नराःकामेनसंयुताः ।
कामोहिविविधाकारः सर्वंकामेनसन्ततम्॥३१॥
नास्तिनासीन्नाभविष्यत् भूतंकामात्मकात्परम्
एतत्सारंमहाराज धर्मार्थावत्रसंस्थितौ ॥ ३२ ॥
नवनीतंयथादध्नस्तथाकामोऽर्थधर्मतः ।
श्रेयस्तैलंहिपिण्याकाद् घृतंश्रेयउदश्वितः॥३३॥

भा०—कामनाके विना धनको नहीं चाहता और कामना हुए विना धर्मकी भी इच्छा कोई नहीं करता और कामनाके विना स्त्रीसंबद्ध कामभोगको भी प्राप्त नहीं होता इससे काम ही मुख्य है। फल फूल पत्ते खाने वाले अथवा वायुभक्षी जितेन्द्रिय ऋषिलोग कामनासे युक्त होकर तप करनेके लिये एकाग्र चित्तसे कटिबद्ध होते हैं। तथा अन्य वेदपारग विद्वान् ब्राह्मणादि लोग वेद उपवेदके अध्ययनमें श्रद्धापूर्वक यज्ञ करनेमें तथा दान देने और दान लेने में कामना पूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं। वनिये किसान ग्वाला बढ़ई लुहारादि शिल्पी चित्रकारादि, दैवको प्रधान मानके कर्म करने वाले इत्यादि सब कामनासे युक्त हो कर ही अपना २ कर्म करते हैं। कोई लोग कामना होनेपर ही समुद्र रत्नादि खोजने के लिये समुद्रमें प्रवेश करते वा समुद्रके पार जाते हैं। संसारमें कामके अनेकरूप हैं यह सब जगत् कामसे ही विस्तृत हुआ है (सोऽकामयत वहुस्याम्) उस ईश्वरने कामना पूर्वक ही संसारको बनाया है। ऐसा कोई प्राणी अबतक नहीं हुआ न अब है न आगे होगा कि जिसमें कुछ भी कामना ही न हो। हे महाराज युधिष्ठिर। यह काम ही सार है धर्म और अर्थ इसी कामके आश्रयसे ठहरे हैं। जैसे दहीमें घी व्यापक है वसे ही धर्म और अर्थमें सारांशरूपसे काम व्यापक है। जैसे घी निकल जानेपर दही नहीं रहता वैसे कामनाके अभावमें धर्म अर्थ भी कुछ नहीं रहते। पिण्याक से तैल और मट्ठासे घी जैसे उत्तम है वैसे ही धर्म अर्थसे काम श्रेष्ठ है ॥३३॥

श्रेयःपुष्पफलंकाष्ठात् कामोधर्मार्थयोर्वरः ।
पुष्पतोमाध्वीकरसः कामआभ्यांतथास्मृतः ॥
कामोधर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथतदात्मकः॥३४॥

नाकामतोब्राह्मणा:स्वन्नमर्थान्नाकामतोददतिब्राह्मणेभ्य: ।
नाकामतोविविधालोकचेष्टातस्मात्काम:प्राक्त्रिवर्गस्यदृष्ट:॥३५॥
सुचारुवेषाभिरलङ्कृताभिर्मदोत्कटाभि:प्रियदर्शनाभि: ।
रमस्वयोषाभिरुपेत्यकामं कामोहिराजन्यपरोभवेन्न:॥३६॥
बुद्धिर्ममैषापरिखास्थितस्य माभूद्विचारस्तवधर्मपुत्र ! ।
स्यात्संहितंसद्भिरफल्गुसारं ममेतिवाक्यंपरमानृशंसम् ॥३७॥
धर्मार्थकामा:सममेवसेव्या योह्येकभक्त:सनरोजघन्य: ।
तयोस्तुदाक्ष्यंप्रवदन्तिमध्यं सउत्तमोयोऽभिरतस्त्रिवर्गे ॥३८॥

भावार्थः—जैसे वृक्षकी लकड़ीसे फूल फल श्रेष्ठ हैं वैसे ही धर्म अर्थसे काम श्रेष्ठ है क्योंकि धर्म अर्थका सारात्मक मूल बीज काम ही है। जैसे फूलसे मधु शहद अच्छा है वैसे ही धर्मार्थसे काम अच्छा है। धर्मार्थका कारण और धर्मार्थरूप काम ही है ॥ ३४ ॥ कामनाके विना ब्राह्मण लोग अच्छे २ अन्न धनको नहीं लेते, कामनाके विना ब्राह्मणोंको कोई दान नहीं देता, कामना के विना चलना फिरना आदि कुछ भी क्रिया नहीं होती, तिससे काम ही तीनों में श्रेष्ठ देखा गया है ॥ ३५ ॥ और हे राजन् ! हम लोगोंमें काम ही बड़ा है क्योंकि कामनाको प्राप्त हो कर ही आप अच्छे वेषों वाली अलङ्कृत प्रसन्न वदन सुन्दरी रूपवती स्त्रियोंके साथ रमण करते हो ॥ ३६ ॥ भीमसेन पाण्डव राजा युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे धर्मपुत्र राजन् ! मेरी यह बुद्धि उच्च कोटिकी है आप इसमें कुछ विचार न कीजिये मेरा यह उपरोक्त कथन मनुष्यों का परम हितकारी, सत्पुरुषोंको अभिमत प्रबल सार स्वरूप है ॥ ३७ ॥ धर्म अर्थ काम इन तीनोंका साथ २ ही सेवन करना चाहिये। इनमें से जो किसी एक का सेवन करता है वह निकृष्ट, दो का सेवन करने वाला मध्यम और तीनों का एक साथ सेवन करने वाला उत्तम है ॥ ३८ ॥ अभिप्राय यह कि मन्वादि महर्षि कहते हैं कि कामना के विना संसार में कुछ नहीं होता इस से धर्मादि सबका मूल कामना ही है। भीमसेन का विचार सुनके राजा युधिष्ठिर स्वयं बोले कि—

नि:संशयंनिश्चितधर्मशास्त्रा: सर्वेभवन्तोविदितप्रमाणा: ।
विज्ञातुकामस्यममेहवाक्य-मुक्तंयद्वैनैष्ठिकंतत्श्रुतंमे ॥३९ ॥
इदन्त्ववश्यंगदतोममापि वाक्यंनिबोधध्वमनन्यभावा: ।

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषःसमलोष्ठकाञ्चनो विमुच्यतेदुःखसुखार्थसिद्धेः ॥४०॥
भूतानिजातिस्मरणात्मकानि जराविकारैश्चसमन्वितानि।
भूयश्चतैस्तैःप्रतिबोधितानि मोक्षंप्रशंसन्तिनतंचविद्मः ॥४१॥
स्नेहेनयुक्तस्यनचास्तिमुक्ति–रितिस्वयंभूर्भगवानुवाच।
बुधाश्चनिर्वाणपराभवन्ति तस्मान्नकुर्यात्प्रियमप्रियंच ॥४२॥
एतत्प्रधानञ्चनकामकारो यथानियुक्तोऽस्मितथाकरोमि।
भूतानिसर्वाणिविधिर्नियुङ्क्ते विधिर्बलीयानितिवित्तसर्वे ॥४३॥
नकर्मणाप्नोत्यनवाप्यमर्थं यद्भावितद्भवतीतिवित्त।
त्रिवर्गहीनोपिहिविन्दतेऽर्थं तस्मादहोलोकहितायगुह्यम् ॥४४॥
इतिमहाभा०शान्तिपर्वणि १६७ अध्याये षड्जगीता समाप्ता ॥

भा०—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि आप सब लोग प्रमाणोंके जानने वाले तथा धर्म शास्त्रोंका निश्चय मन्तव्य ठीक जानने वाले हैं। क्योंकि आप लोगों की राय सुनना चाहते हुए मेरे प्रस्तावपर आप सब ने शास्त्र सम्मत अच्छा विचार कहा ॥ ३९ ॥ परन्तु अब एकाग्रचित्तसे कुछ मेरा भी निम्न विचार अवश्य सुन लीजिये कि जो पुरुष पाप पुण्य, धर्म अर्थ काम इन किसी में भी विशेष प्रेम नहीं रखता जो किसीमें लिप्त नहीं जिसने रागद्वेषादि दोष छोड़ दिये जो मट्टी और सुवर्णको एकसा देखने वाला है वह सुख दुःख दोनोंसे पृथक् उदासीन होता है ॥ ४० ॥ हम अमुक २ मनुष्यादि हैं ऐसे जाति स्मरण रूप जरावस्था और अनेक विचारोंसे युक्त प्राणी वार २ बोध कराये जाने पर मोक्षकी प्रशंसा करते हैं पर फिर भी ठीक २ तत्त्व नहीं जान पाते ॥ ४१ ॥ स्नेह वा रागसे युक्त पुरुषकी मुक्ति नहीं होती यह भगवान् स्वयंभूने कहा है, ज्ञानी लोग निर्वाण मोक्ष में तत्पर होते हैं तिससे प्रिय अप्रिय दोनों त्याज्य हैं ॥ ४२ ॥ यही धर्मादि प्रधान है इसीको सब करें सो अपने आधीन नहीं विधाता की इच्छा बलवती है यह तुम सब जानो ॥ ४३ ॥ अप्राप्य दुर्लभ अर्थ कर्मसे प्राप्त नहीं होता जो भावी है वही होता है। त्रिवर्ग से हीन पुरुष भी अभीष्ट सुख को प्राप्त हो सकता है तिससे यह आया कि लोगों का हित क्या है? यह बात गुप्त है। अभिप्राय यह कि ज्ञान वैराग्य की ओर तत्पर होना उत्तम हितकारी है। यह षडजगीता समाप्त हुई॥

अथ हारीतगीतारम्भः ॥

युधि०—किंशीलःकिंसमाचारः किंवेद्यःकिंपरायणः ।
प्राप्नोतिब्रह्मणःस्थानं यत्परंप्रकृतेर्ध्रुवम् ॥१॥
भीष्म०—मोक्षधर्मेषुनिरतो लघ्वाहारोजितेन्द्रियः ।
प्राप्नोतिपरमंस्थानं यत्परंप्रकृतेर्ध्रुवम् ॥२॥
स्वगृहादभिनिःसृत्य लाभालाभेसमोमुनिः ।
समुपोढेषुकामेषु निरपेक्षःपरिव्रजेत् ॥ ३ ॥
नचक्षुषानमनसा नवाचादूषयेदपि ।
नप्रत्यक्षंपरोक्षंवा दूषणंव्याहरेत्क्वचित् ॥४॥
नहिंस्यात्सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदंजीवितमासाद्य वैरंकुर्वीतकेनचित् ॥५॥

भावार्थः—राजा युधिष्ठिर भीष्म जी से पूछते हैं कि कैसे स्वभाव और कैसे आचरण वाला किसको जाननेमें और क्या काम करनेमें तत्पर रहने वाला पुरुष प्रकृतिसे परे ब्रह्मके अटल स्थानको प्राप्त होता है ? ॥ १ ॥ इस पर भीष्म जी कहते हैं कि मोक्ष धर्मोंमें तत्पर रहनेवाला सूक्ष्म थोड़ा भोजन करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष भगवान्के परम पदको प्राप्त होता है ॥२॥ अपने घरसे निकलके विरक्त होकर लाभ अलाभमें समान वृत्ति और मौन रहता हुआ उत्तम २ भोजन वस्त्रादिकी अपेक्षा न रखता हुआ विचरे ॥ ३ ॥ कड़ी क्रोध भरी निगाहसे किसीको न देखे मनसे किसीका अनिष्ट चिन्तन न करे, वाणीसे कठोर वा असत्य अनुचित किसीसे न बोले, सामने वा पीछे किसी की चुगली वा निन्दा कभी न करे अर्थात् किसीका दोष अपनी वाणीसे जानता हुआ भी कभी न कहे ॥ ४ ॥ किसी प्राणीको दुःख देनेकी लेशमात्र भी चेष्टा न करे, सबसे मित्रभाव रक्खे सबको मित्रकी दृष्टिसे देखता हुआ विचरे । इस मानुष देहस्थ जीवनको पाकर किसीसे कभी वैर न करे ॥ ५ ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येतकंचन ।
क्रोध्यमानःप्रियंब्रूयादाक्रुष्टःकुशलंवदेत् ॥ ६ ॥
प्रदक्षिणंचसव्यंच ग्राममध्येनचाचरेत् ।
भैक्षचर्यामनापन्नो नगच्छेत्पूर्वकेतितः ॥ ७ ॥

अवकीर्णः सुगुप्तश्च वाचानह्यप्रियंवदेत् ।
मृदुःस्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धःस्यादकत्थनः ॥ ८ ॥
विधूमेन्यस्तमुसले व्यङ्गारेभुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसंचारे भिक्षांलिप्सेतवैमुनिः ॥ ९ ॥
अलाभेनविषादीस्याल्लाभेचैवनहर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रःस्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ १० ॥

कोई अपने साथ अधिक वाद विवाद करे तो उसे सह लेवे वदलेमें उसरो वैसा ही वाद न करे किसीका भी अपमान न करे, कोई क्रोध करानेकी चेष्टा करता हो तो उससे प्रिय बोले कोई गाली देवे तो भी उसके अनुचित पर ध्यान न देकर उससे प्रेम प्रीतिसे बोले ॥ ६ ॥ गांवके बीचसे निकलने पड़े तो सीधा २ निकल जावे दहिने बायें चक्कर न लगावे, भिक्षा न मिलने पर भी किसीके यहां निमन्त्रण खानेको न जावे ॥ ७ ॥ कोई धूलि फेंके वा कोई रक्षा करे तो भी वाणीसे किसीको प्रिय अप्रिय कुछ न कहे, कोमल रहे क्रूरता कठोरता धारण न करे अन्योंका विश्वासपात्र बने पर आत्मश्लाघा न करे॥८॥ जब ग्राम नगरादिमें भोजन पकानेका धूम न रहे, कूटना पीसना बंद होजावे, अङ्गार न रहें सब लोग खा पी चुकें दोना पत्तलादि फेंकदिये गये हों ऐसे समय तीसरे पहर गांवमें भिक्षा लेनेको जाया करे मौन रहे ॥ ९ ॥ भिक्षा न मिलनेपर दुःख न माने अनुकूल भिक्षा मिलने पर प्रसन्न न हो जीवनकी रक्षा के लिये आठ ग्रास मात्र अन्न प्रति दिन खाया करे अपने दण्डादि पर भी आसक्ति न करे कि यह दंड अच्छा वा यह बुरा है ॥ १० ॥

लाभंसाधारणंनेच्छेन्नभुञ्जीताभिपूजितः ।
अभिपूजितलाभंहि जुगुप्सेतैवसर्वशः ॥११॥
नचान्यदोषान्निन्देत नगुणानभिपूजयेत् ।
शय्यासनेविविक्तेच नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥१२॥
शून्यागारं वृक्षमूलमरण्यमथवागुहाम् ।
अज्ञातचर्यां गत्वान्यां ततोऽन्यत्रैवसंविशेत् ॥ १३॥
अनुरोधविरोधाभ्यां समःस्यादचलोध्रुवः ।
सुकृतंदुष्कृतंचोभे नानुरुध्येतकर्मणा ॥ १४ ॥

नित्यतृप्तःसुसंतुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः ।
विभीर्जप्यपरोमौनी वैराग्यंसमुपाश्रितः ॥१५॥
अभ्यस्तंभौतिकंपश्यन् भूतानामागतिंगतिम् ।
निस्पृहःसमदर्शीच पक्वापक्वेनवर्त्तयन् ।

साधारण लाभको न चाहे, अधिक आदर सत्कारके भोजनको स्वीकार न करे किन्तु विशेष आदर सत्कारसे होने वाली मान प्रतिष्ठाकी सदाही निन्दा किया करे ॥ ११ ॥ अन्नके दोषोंकी निन्दा न करे कि अन्न ऐसा २ बुरा है अच्छे स्वादिष्ट भोजनकी प्रशंसा भी न करे अर्थात् अनुकूल प्रतिकूल भोजनमें हर्ष शोक कुछ न करे, एकान्तमें लेटना वैठना आसन लगाना स्वीकार करे ॥ १२ ॥ जिस शून्य घर वृक्ष मूल वन अथवा गुफा को छोड़कर कहीं भी चला जावे और वहां लौट कर फिर आवे तो उन सूने घर आदिमें फिर न ठहरे न कहे वा न माने कि ये मेरे स्थान हैं ॥१३॥ किसी पर विशेष कृपादृष्टि और किसीसे विरोध न करके समदृष्टि रहे चंपलताको त्यागे निश्चल स्थिर मति रहे । अपने कर्म द्वारा पाप पुण्य दोनों से ही उदासीन रहे ॥ १४ ॥ नित्य तृप्त संतुष्ट, प्रसन्न मुख और आंखोंसे भी प्रसन्नता प्रकट करे, निर्भय, मौनी, प्रणव का जप करने वाला वैराग्यवान् रहे ॥ १५ ॥ प्राणियोंके आवागमनको अर्थात् जीवन मरण को सामान्य बुद्धिसे देखे अर्थात् दोनोंमें हर्ष शोक न माने निस्पृह और समदर्शी रहे, कच्चा वा पक्का जैसा अन्न मिलजावे उसीका अल्पाहार कर लिया करे ॥

आत्मनायःप्रशान्तात्मा लघ्वाहारोजितेन्द्रियः ॥१६॥
वाचोवेगंमनसःक्रोधवेगं हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान्वेगान्विषहेद्वैतपस्वी निन्दाचास्यहृदयंनोपहंन्यात् ॥१७॥
मध्यस्थएवतिष्ठेत प्रशंसानिन्दयोःसमः ।
एतत्पवित्रंपरमं परिव्राजकआश्रमे ॥१८॥
महात्मासर्वतोदान्तः सर्वत्रवानपाश्रितः ।
अपूर्वचारकःसौम्यो ह्यनिकेतःसमाहितः ॥१९॥
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां नसंसृज्येतकर्हिचित् ।
अज्ञातलिप्संलिप्सेत नचैनंहर्षआविशेत् ॥ २० ॥

विजानतांमोक्षएष श्रमःस्यादविजानताम् ।
मोक्षयानमिदंकृत्स्नं विदुषांहारितोऽब्रवीत् ॥२१॥
अभयंसर्वभूतेभ्यो दत्त्वायःप्रव्रजेद्गृहात् ।
तस्यतेजोमयालोका भवन्तिब्रह्मवादिनः ॥ २२ ॥

इति श्री म० भा० शान्तिपर्वणि २७७ अ० हारीतगीता समाप्ता॥

जो चित्तको प्रशान्त स्वरूप रक्खे अल्पाहार करे जितेन्द्रिय रहे वह संसार सागर के पार हो जाता है ॥ १६ ॥ वाणी मन हाथ पेट और उपस्थेन्द्रिय इन सबके वेगको रोके सहलेवे। अर्थात् कठोर बोलनेके समय वाणीके उद्वेगको मनमें उठे क्रोधको हाथसे मारनेके समय हाथके वेग को, अच्छे भोजनके लिये भागनेके वेग को और उपस्थमें उठे व्यभिचारके वेगको सह लेना ही परमार्थी होना है। निन्दा करने द्वारा स्वचित्तको न विगाड़े ॥ १७ ॥ प्रशंसा और निन्दा में मध्यस्थ रहे संन्यासाश्रममें यही परमपवित्र काम है ॥ १८ ॥ सब प्रकार मनको वशीभूत करने वाला महात्मा किसीका आश्रय न लेकर सर्वत्र विचरे। पहिले जहां २ न गया हो वहां २ नयी २ जगहों में विचरे अपना कोई स्थान नियत न करे सावधान सौम्य स्वभावसे रहे ॥ १९ ॥ वानप्रस्थ और गृहस्थसे विशेष संसर्ग न करे, जिसके लाभकी इच्छा किसी को ज्ञात नहीं उस आत्मतत्त्व प्राप्ति की इच्छा करे परन्तु किसी बात में भी विशेष हर्ष न माने ॥ २० ॥ यह उक्त उपदेश बुद्धिमानोंके लिये मोक्ष स्वरूप तथा अविद्वानों के लिये केवल बोझा वा श्रम है। महर्षि हारीत ने विद्वानोंके लिये यह मोक्षमार्ग कहा है ॥२१॥ जो द्विज सब प्राणियोंको अभयदान देके घरसे निकलकर विरक्त होता है उस ब्रह्मवादी को प्रकाशमय लोक प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ मनुस्मृति अ० ६ में कहा संन्यास धर्म इस हारीत गीता से विशेषकर मिलता है ॥

अभिप्राय यह है कि इस हारीतगीतामें कहे अनुसार वर्त्ताव करने वाला परिपक्व ज्ञानी पुरुष हो सकता है ऐसे आचार विचारों का स्थिर होना ही जीवन्मुक्त का चिन्ह है। ज्ञानकी परिपक्व दशा होनेका लक्षण यही है कि उत्तम रूपवती युवति स्त्रीके एकान्त में निर्विघ्न उपस्थित होने पर भी काम के वेगको उसमें दोषदर्शी होकर रोक सके वा उस दशामें भी काम वासना ही न जागे तो इसीका नाम योग भाष्यमें दग्धबीजावस्था कहा है ॥

यह हारीतगीता पूरी हुई ॥

अथ–हंसगीतारम्भः

युधि०–सत्यंदमंक्षमांप्रज्ञां प्रशंसन्तिपितामह !।
विद्वांसोमनुजालोके कथमेतन्मतंतव ॥ १ ॥
भीष्म०–अत्रतेवर्त्तयिष्येऽहमितिहासंपुरातनम् ।
साध्यानामिहसंवादं हंसस्यचयुधिष्ठिर ! ॥ २ ॥
हंसोभूत्वाऽथसौवर्णस्त्वजोनित्यःप्रजापतिः ।
सर्वैपर्येतिलोकांस्त्रीनथसाध्यानुपागमत् ॥ ३ ॥
साध्या०–शकुनेवयंस्मदेवावै साध्यास्त्वांमनुयुञ्ज्महे ।
पृच्छामस्त्वांमोक्षधर्मं भवांश्चकिलमोक्षवित् ॥ ४ ॥
श्रुतोऽसिनःपण्डितोधीरवादी साधुशब्दश्चरतेतेपतत्रिन् ।
किंमन्यसेश्रेष्ठतमंद्विजत्वंकस्मिन्मनस्तेरमतेमहात्मन् ॥५॥
तन्नःकार्यंपक्षिवरप्रशाधि यत्कार्याणांमन्यसेश्रेष्ठमेकम् ।
यत्कृत्वावैपुरुषःसर्वबन्धैर्विमुच्यतेविहगेन्द्रेहशीघ्रम् ॥ ६ ॥

भावार्थ–राजायुधिष्ठिर जी कहते हैं कि हे भीष्म पितामह जी ! विद्वान् मनुष्य लोक में सत्य दम क्षमा और बुद्धि की प्रशंसा करते हैं इस विषयमें आप का क्या मन्तव्य है सो कहिये ॥ १ ॥ भीष्म जी कहते हैं कि हे युधिष्ठिर राजन् ! इस विषयमें हंस और साध्य देवोंका संवाद रूप प्राचीन इतिहास हम दिखाते हैं ॥२॥ नित्य अजन्मा प्रजापति परमात्मा हंसका रूप धारण करके तीनों लोकमें विचरता हुआ साध्य देवों के समीप आया ॥ ३॥ तब साध्य देव बोले कि हे हंस आप मोक्षतत्त्वके जानने वाले हैं इस से हम साध्य देव तुमसे मिलकर मोक्षधर्मको पूछते हैं ॥ ४ ॥ हमने आप को धीर वादी पण्डित सुना है, हे पक्षिन् ! तुम्हारा उपदेशामृत अच्छा शब्द निकलता है हे महात्मन् तुम क्या श्रेष्ठ मानते हो और किसमें तुम्हारा चित्त रमता है ॥ ५ ॥ हे श्रेष्ठ पक्षिन् ! बहुत कर्त्तव्यों में जिस एक काम को अतिश्रेष्ठ मानते हो उस की शिक्षा हम को कीजिये कि जिस काम को करके पुरुष इस जगत् में सब बन्धनों से छूट जाता है उस कर्त्तव्य का उपदेश कीजिये ॥ ६ ॥

हंस०–इदंकार्यममृताशा:शृणोमितपोदम:सत्यमात्माभिगुप्ति:।
ग्रन्थीन्विमुच्यहृदयस्यसर्वान्प्रियाप्रियेस्वंवशमानयीत ॥७॥
नारुन्तुद:स्यान्ननृशंसवादीनहीनत:परमभ्याददीत।
ययास्यवाचापरउद्विजेतनतांवदेद्रुशतींपापलोक्याम् ॥८॥
वाक्सायकावदनान्नि:सरन्तियैराहत:शोचतिरात्र्यहानि।
परस्यनामर्मसुतेपतन्तितान्पण्डितोनावसृजेत्परेषु ॥९॥
परश्चेदेनमभिविध्येतबाणैर्भृशंसुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तै:।
संरोष्यमाण:प्रतिहृष्यतेय: सआदत्तेसुकृतंवैपरस्य ॥१०॥
क्षेपायमाणमभिषङ्गव्यलीकंनिगृह्णातिज्वलितंयश्चमन्युम्।
अदुष्टचेतामुदितोऽनसूयु: सआदत्तेसुकृतंवैपरेषाम् ॥११॥
आक्रुश्यमानोनवदामिकिञ्चित्क्षमाम्यहंताड्यमानश्चनित्यम्।
श्रेष्ठंह्येतत्यत्क्षमामाहुरार्या:सत्यंतथैवार्जवमानृशंस्यम्॥ १२ ॥

हंस बोला कि–हे साध्यदेवो ? मैं यह कर्त्तव्य समझता हूं कि काम क्रोधादि सम्बन्धी हृदय के सब बन्धनों को छोड़ के प्रिय अप्रिय को अपने वश में करे अर्थात् प्रिय अप्रिय के आधीन न हो ॥ ७ ॥ गूढ़ कठोर वा असिद्ध कठोर न बोले नीच से शत्रुता वा मेल न करे। इस की जिस वाणी से अन्य लोगों को भय वा घबराहट हो ऐसी पापी लोगों कीसी जलती हुई वाणी को न बोले ॥ ८ ॥ मुख से कठोर वाणी रूप जो बाण निकलते हैं जिन से मारा हुआ दिन रात शोक करता है वे बाण दूसरों के मर्म स्थानों में विंध जाते हैं समझदार मनुष्य दूसरों पर वैसे वाग्बाण न छोड़े ॥ ९ ॥ यदि अन्य कोई अग्नि सूर्यादि की गर्मीकी तरह जलते हुए से तीक्ष्ण बाणोंसे जिसके हृदयको बार २ वेधन करे और अन्यके क्रोध दिलाने पर भी जो क्रुद्ध न हो कर प्रसन्न रहे वह अन्य के पुण्य को ले लेता है ॥ १० ॥ मिथ्या दोष लगानेके आक्षेपसे प्रज्वलित हुए क्रोधसंबन्धी वेगको रोकलेने वाला अनिन्दक चित्तसे वैर न करने वाला पुरुष दोष लगाने वालेका पुण्य ले लेता है ॥११॥ हंस कहता हैं कि मुझे कोई गाली देतो मैं कुछ जवाब नहीं देता और मुझे कोई मारे पीटे तो नित्य ही क्षमा कर देता सह लेता हूं। इस सत्य भाषण कोमलता मनुष्यों को दुःख न देने की चेष्टा और क्षमा करने को आर्य लोग श्रेष्ठ कहते हैं अर्थात् द्वेषवर्गका सर्वथा त्याग एक प्रबल परमार्थ है ॥ १२ ॥

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥ १३ ॥
वाचोवेगंमनसःक्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान्वेगान्योविषहेदुदीर्णांस्तंमन्येऽहंब्राह्मणंवैमुनिंच॥१४॥
अक्रोधनःक्रुध्यतांवैविशिष्टस्तथातितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषान्मानुषोवैविशिष्टस्तथाऽज्ञानाज्ज्ञानविद्वैविशिष्टः॥१५
आक्रुश्यमानोनाक्रोशेन्मन्युरेवतितिक्षतु । आक्रोष्टारंनिर्दह-
तिसुकृतंचास्यविन्दति ॥ १६ ॥ योनात्युक्तः प्राहरूक्षंप्रियंवा
योवाहतोनप्रतिहन्तिधैर्यात् । पापञ्चयोनेच्छतितस्यहन्तुस्त-
स्येहदेवाःस्पृहयन्तिनित्यम् ॥ १७ ॥

वेद का सत्य सार उपनिषद्, सत्यका सार दम और दमका सार मोक्ष है यही सब का निचोड़ शिक्षा है ॥ १३ ॥ वाणी के वेग को मन में उठे क्रोध के वेग को नया काम करने के वेग को क्षुधा के वेग को और सुन्दरी युवति के एकान्त में निर्विघ्न उपस्थित होने पर उठे काम के वेग को इन सब उमड़े हुए प्रबल वायु के से वेगों को जो रोक ले नाम सह लेवे उसी को मैं ब्राह्मण और मुनि मानता हूं ॥ १४ ॥ जैसे क्रोधियों में क्रोधरहित, असहनशीलों में सहन शील और तिर्यग्योनियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ है वैसे ही अज्ञानी से ज्ञानी श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥ कोई क्रोध कराना चाहे तो भी क्रोध न करके क्रोध को मार दे तो वह विरक्त पुरुष क्रोध करने वालेका नाश करता और उसके पुण्यको प्राप्त हो जाता है ॥ १६ ॥ जो अन्य के बहुत कहने नाम अनुचित बकने पर कठोर वा कोमल कुछ नहीं कहता मन में भी कुछ दुःख वा सुख नहीं मानता और जो अन्य दुष्ट के अपने को मारने पीटने पर भी उस दुष्ट को अपने धैर्यसे नहीं मारता और उस मारने वाले का अपने मन में भी अनिष्ट चिन्तन नहीं करता उस को देवता लोग भी नित्य ही मिलना चाहते हैं ॥१७॥

पापीयसःक्षमेतैव श्रेयसःसदृशस्यच ।
विमानितोहतोत्क्रुष्ट एवंसिद्धिंगमिष्यति ॥१८॥
सदाऽहमार्यान्निभृतोऽप्युपासे नमेविधित्सोत्सहतेनरोषः ।
नचाप्यहंलिप्समानःपरैमि नचैवकिंचिद्विषयेनयामि ॥ १९॥

नाहंशप्तःप्रतिशपामिकञ्चिद् दमंद्वारंह्यमृतस्येहवेद्मि।गुह्यंब्रह्म तदिदंवोब्रवीमिनमानुषात्श्रेष्ठतरंहिकिञ्चित् ॥ २० ॥ निर्मुच्यमानःपापेभ्यो घनेभ्यइवचन्द्रमाः । विरजःकालमाकाङ्क्षन् धीरोधैर्येणसिध्यति ॥ २१ ॥ यः सर्वेषांभवतिह्यर्चनीयउत्सेधनस्तम्भइवाभिजातः । यस्मैवाचंसुप्रसन्नांवदन्ति सवैदेवान्गच्छतिसंयतात्मा ॥ २२ ॥

अपने से बड़े छोटे वा बराबर वाले पापी के अपराध को अपमान करने मारने पीटने वा गाली देने पर भी जो सह लेता है वह विरक्त ज्ञानी सिद्धि को प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥ मैं नम्र हुआ सदा सज्जनोंकी सेवा करता हूं मुझ को काम करनेकी उमंग और क्रोध नहीं दवा सकते, मैं धन मान प्रतिष्ठा भोजनादि प्राप्ति की इच्छा से कहीं नहीं जाता और सुख के साधन धनादि का संचय भी नहीं करता ॥ १९ ॥ मुझे कोई कोशे तो मैं उसे नहीं कोशता दम को मोक्ष का द्वार जानता हूं जो वेद का गुप्त तत्त्वज्ञान है वह तुम लोगोंसे कहता हूं कि मनुष्यसे श्रेष्ठ कोई अन्य प्राणी नहीं है ॥ २० ॥ वादलों से ढंपे चन्द्रमा के समान पाप दोषों से छूटता और निर्मल शुद्ध पवित्र होके धीर पुरुष काल की प्रतीक्षा करता हुआ धैर्य से सिद्धि को प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥ जो पुरुष संसार में ऊंचे खम्भ के तुल्य अति प्रकट प्रसिद्ध सब का पूजनीय हो जाता है और जिस के लिये अच्छी प्रसन्न वाणी को सब कहते हैं वह संयमी हुआ देवों को प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

नतथावक्तुमिच्छन्ति कल्याणान्पुरुषेगुणान् ।
यथैषांवक्तुमिच्छन्ति नैर्गुण्यमनुयुञ्जकाः॥२३॥
यस्यवाङ्मनसीगुप्तेसम्यक्प्रणिहितेसदा ।
वेदास्तपश्चत्यागश्चसइदंसर्वमाप्नुयात् ॥२४॥
आक्रोशनावमानाभ्यां नावुधान्गर्हयेद्बुधः ।
तस्मान्नवर्द्धयेदन्यं नचात्मानंविहिंसयेत्॥२५॥
अमृतस्येवसंतृप्येदवमानस्यपण्डितः ।
सुखंह्यवमतःशेतेयोऽवमन्तासनश्यति ॥२६॥
यत्क्रोधनोयजतियद्ददातियद्वातपस्तप्यतियज्जहोति।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्यसर्वंमोघःश्रमोभवतिहिक्रोधनस्य २७॥

पुरुषोंके उत्तम गुण प्रायः लोग वैसे कहना नहीं चाहते जैसे कि दोषदर्शी लोग अन्योंके अवगुणोंका वर्णन करना चाहते हैं अर्थात् गुणोंकी अपेक्षा दोषों की चर्चा जल्दी फैल जाती है ॥ २३ ॥ जिस पुरुषके वाणी और मन सुरक्षित और सम्यक् स्थित हैं जो वेदाध्ययन तप और दान भी यथावत् करता है वह इस सब तत्त्वज्ञानके सुखको प्राप्त हो जाता है ॥२४॥ विद्वान्को चाहिये कि गाली देने और अपमान करने द्वारा मूर्खोंकी भी निन्दा कभी न करे। तथा अधिक प्रशंसादिके द्वारा अन्यको न बढ़ावे और न अपनेको अधिक कह देवे ॥ २५ ॥ विद्वान्को चाहिये कि कोई अपमान करे तो उस अपमान को अमृतके तुल्य स्वीकार करे, अपमान किया हुआ विरक्त महात्मा आनन्द पूर्वक सोता है और जो अपमान करता है वह नष्ट होजाता है। अर्थात वह अपमान जब उस महात्माको सुखदायी हो जाता है तब वही लौटकर अपमान करने वालेको दुःख देता है ॥ २६ ॥ क्रोधी पुरुष यज्ञ दान तप और होम जो २ काम करता है यमराज उस सब को हर लेते हैं उस क्रोधीको व्यर्थ ही परिश्रम मात्र होता है यज्ञादिका फल कुछ नहीं होता इससे क्रोधको त्याग के यज्ञादि कर्म करने चाहिये ॥ २७ ॥

चत्वारियस्यद्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः।
उपस्थमुदरंहस्तौ वाक्चतुर्थींसधर्मवित् ॥ २८ ॥
सत्यंदमंह्यार्जवमानृशंस्यं धृतिंतितिक्षामतिसेवमानः।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन्परेषा-मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत्सः २९
सर्वांश्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरस्तनान् ।
नपावनतमंकिञ्चित् सत्याद्ध्यगमंक्वचित् ॥ ३० ॥
आचक्षेऽहंमनुष्येभ्यो देवेभ्यःप्रतिसञ्चरन् ।
सत्यंस्वर्गस्यसोपानं पारावारस्यनौरिव ॥ ३१ ॥
यादृशैःसन्निवसति यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्चभवितुं तादृग्भवतिपूरुषः ॥३२॥

हंस कहता है कि हे साध्य देवो! जिसने उपस्थेन्द्रिय, पेट, हाथ और वाणी इन चारको ठीक सुरक्षित रख लिया वह धर्मका मर्म जान लेता है ॥ २८॥ सत्य भाषण, मनको वशमें करना, कोमल वर्त्ताव, मनुष्योंको दुःख देने

की चेष्टा का न होना. धैर्य रखना तथा क्षमा–सहन शीलता इन सबका अच्छा सेवन करता हुआ नित्य वेद पढ़े अन्योंसे कुछ प्राप्त होनेकी तृष्णाको त्यागे और एकान्तमें निवास का स्वभाव वाला हो वह स्वर्ग प्राप्तिके योग्य होता है ॥ २९ ॥ जैसे बछड़ा गौके चारो थनोंको पारापारीसे पीता है वैसे ही इन पूर्वोक्त सब सत्यादिका सेवन करे, परन्तु हंस कहता है कि मैं ने सत्यसे अधिक पवित्र वा उत्तम अन्य किसीको नहीं पाया ॥ ३० ॥ मैं मनुष्यों तथा देवोंमें सर्वत्र विचरा करता हूं और दोनोंसे कहता हूं कि नद्यादिके पार जाने के लिये नौकाके तुल्य स्वर्गप्राप्तिके लिये सत्य एक उत्तम सीढ़ी वा जीना है ॥ ३१ ॥ जैसोंके साथ निवास करता है और जैसोंका संग करता है और जैसा होना चाहता है वह पुरुष वैसा हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसा होना चाहता हो वह वैसोंके साथ निवास और वैसोंका ही संग करे ॥ ३२ ॥

यदिसन्तंसेवतियद्यसन्तं तपस्विनंयदिवास्तेनमेव ।
वासोयथारङ्गवशंप्रयाति तथासतेषांवशमभ्युपैति ॥३३॥
सदादेवाःसाधुभिःसंवदन्ते नमानुषंविषयंयान्तिद्रष्टुम् ।
नेन्दुःसमःस्यादसमोहिवायु–रुच्चावचंविषयंयःसवेद ॥ ३४ ॥
अदुष्टंवर्त्तमानेतु हृदयान्तरपूरुषे ।
तेनैवदेवाःप्रीयन्ते सतांमार्गस्थितेनवै ॥ ३५ ॥
शिश्नोदरेयेनिरताःसदैव स्तेनानरावाक्परुषाश्चनित्यम् ।
अपेतदोषानपितान्विदित्वा दूराद्देवाःसंपरिवर्जयन्ति ॥ ३६॥
नवैदेवाहीनसत्वेनतोष्याः सर्वाशिनादुष्कृतकर्मणावा ।
सत्यव्रतायेतुनराःकृतज्ञा धर्मेरतास्तैस्सहसंभजन्ते ॥ ३७ ॥

जो सज्जनका संग करे वह सज्जन हो जाता है, दुर्जनका संगी दुर्जन, तपस्वीका संगी तपस्वी और चोरका संगी चोर ऐसे ही हो जाता है कि जैसे कोरे वस्त्र पर वह २ रंग चढ़जाता है ॥ ३३ ॥ देवता लोग सच्चे सीधे सादे साधुजनोंसे संवाद करते हैं पर मानुष विषयोंको देखने के लिये देवता नहीं आते, चन्द्रमा एक रूप नहीं रहता किन्तु पारापारीसे घटता बढ़ता रहता है, वायु सर्वत्र एकसा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार संसारके ऊंचे नीचे विषय को जो जानता है वही सुख पाता है ॥ ३४ ॥ हृदयके भीतर जो अदृष्ट चेतन

शक्ति जीव विद्यमान है उसी जीवके श्रेष्ठ धर्म मार्गमें स्थित होनेपर उसी जीवसे देवता लोग प्रसन्न संतुष्ट होते हैं भोजन और कामभोग में जो सदा आसक्त रहने वाले तथा चोरी करने और जो नित्य कठोर बोलने वाले हैं ऐसे मनुष्योंको देवता लोग यह भी जानलें कि उक्त दोष इनने छोड़दिये तो भी देवता उनको दूरसे ही वर्जित करदेते हैं ॥ ३६ ॥ नष्ट बुद्धि सर्वभक्षी दुष्कृत पापकर्म करने वाले मनुष्य देवोंको संतुष्ट नहीं करपाते किन्तु सत्य भाषण का व्रत रखने वाले धर्ममें तत्पर कृतज्ञ पुरुषोंके साथ देवता लोग मेल करते हैं। देवता दो प्रकारके हैं एक आजान देव और द्वितीय कर्मदेव, इनमें आजान देव मुख्य हैं उन्हीं का संतुष्ट होना इस प्रकरणमें कहा जानो ॥३७॥

अव्याहृतंव्याहृताच्छ्रेयआहुः सत्यंवदेद्व्याहृतंतद्द्वितीयम् ।
धर्मंवदेद्व्याहृतंतत्तृतीयं प्रियंवदेद्व्याहृतंतच्चतुर्थम् ॥३८॥

साध्याऊचुः । केनायमावृतोलोकः केनवानप्रकाशते ।
केनत्यजतिमित्राणि केनस्वर्गंनगच्छति ॥ ३९ ॥

हंसउवाच—अज्ञानेनावृतोलोको मात्सर्यान्नप्रकाशते ।
लोभात्त्यजतिमित्राणि सङ्गात्स्वर्गंनगच्छति ॥ ४० ॥

साध्याऊचुः । कःस्विदेकोरमतेब्राह्मणानां कःस्विदेकोबहुभिर्जोषमास्ते । कःस्विदेकोबलवान्दुर्बलोऽपि कःस्विदेषां कलहंनान्ववैति ॥ ४१ ॥

बोलनेसे न बोलने रूप मौनको अच्छा कहा है, उसी मौनसे सत्य बोलना अच्छा, वाणीसे केवल धर्मकी ही बात कहे तो सत्यसे भी अच्छा है। धर्मसे विरुद्ध अधर्मकी सत्य बात भी न कहे। और प्रिय ही बोले यह उससे भी अच्छा है ॥ ३८ ॥ साध्यदेव बोले कि—ये लोक किससे आच्छादित हैं, किस हेतुसे प्रकाशित नहीं होते और किस कारणसे मित्रोंको त्याग देते हैं तथा किस कारण सुख विशेष स्वर्गको प्राप्त नहीं होपाते ॥ ३९ ॥ हंस बोला कि अज्ञानसे लोक आच्छादित हैं, मत्सरताके कारण प्रकाशित नहीं होते, लोभसे मित्रोंको छोड़ते हैं और संसारी विषयोंका संग होनेसे स्वर्गको प्राप्त नहीं होपाते ॥४०॥ फिर साध्यदेव बोले कि—ब्राह्मणोंमें कौन एक प्रसन्न रहता,

बहुतोंके साथ कौन एक मिलके रहता, कौन एक बलवान् और दुर्बल दोनों रूप होता और कौन एक बहुत संसारी मनुष्योंके साथ कलह नहीं करता ॥४१॥

हंसउवाच । प्राज्ञएकोरमते ब्राह्मणानां प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते । प्राज्ञएको बलवान् दुर्बलोऽपि प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति ॥ ४२ ॥ साध्याऊचुः । किं ब्राह्मणानां देवत्वं किञ्च साधुत्वमुच्यते । असाधुत्वञ्च किन्तेषां किमेषां मानुषं मतम् ॥ ४३ ॥ हंसउवाच । स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते । असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते ॥४४॥ भीष्मउवाच । संवादइत्ययंश्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्त्तितः । क्षेत्रंवैकर्मणांयोनिः सद्भावःसत्यमुच्यते ॥ ४५ ॥

इति शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हंसगीतायां नवनवत्यधिकद्विशतोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

फिर हंस बोला कि-ब्राह्मणोंमें एक विद्वान् ही प्रसन्न रहता, एक विद्वान् ही सबसे मेल रखता, एक विद्वान् ही बलवान् तथा दुर्बल दोनोंरूप [बड़े २ प्रबल दुःखोंके सहलेनेसे बलवान् और दुर्जन चौरादिसे बदला न ले सकनेसे विद्वान् दुर्बल हैं] होता और एक विद्वान् ही बहुतोंमें कलह नहीं करता अर्थात् जो ऐसा हो वही विद्वान् जानो ॥ ४२ ॥ साध्यदेव फिर बोले कि-ब्राह्मणोंमें क्या देवत्व क्या साधुपन, क्या असाधुपन और इनमें मानुषीभाव क्या है ॥४३॥ फिर हंस बोला कि ब्राह्मणोंमें वेदाध्ययन करना देवत्व है, व्रत करना साधुपन है, अन्योंकी निन्दा करना असाधुपन और मरजाना मनुष्यपन है ॥ ४४ ॥ अब अन्तमें भीष्मजी कहते हैं कि-यह साध्य देवोंका हंसरूप प्रजापतिके साथ हुआ अतिश्रेष्ठ संवाद कहा गया यह संवाद शुभ कर्मोंका खेतरूप कारण है और आपेसे विचलित न होना रूप सद्भाव ही सत्य है ॥ ४५ ॥

इस हंसगीतामें आचरणोंका सुधार कल्याणका हेतु कहा है सत्यादिके यथोक्त सेवनसेही कल्याण हो सकता है । यही संवाद कुछ कम उद्योगपर्वस्थ विदुरनीतिमें भी आचुका है ॥

इति हंसगीता समाप्ता ॥

अथ—व्यासगीतारम्भः ॥

युधि०—कथंनिर्वेदमापन्नः शुकोवैयासकिःपुरा ।
एतदिच्छाम्यहंश्रोतुं परंकौतूहलंहिमे ॥ १ ॥
भीष्म०—प्राकृतेनप्रयत्नेन चरन्तमकुतोभयम् ।
अध्याप्यकृत्स्नंस्वाध्यायमन्वशाद्वैपितासुतम् ॥ २ ॥
व्यास०—धर्मंपुत्र! निषेवस्व सुतीक्ष्णौचहिमातपौ ।
क्षुत्पिपासेचवायुञ्च जयनित्यंजितेन्द्रियः ॥ ३ ॥
सत्यमार्जवमक्रोध—मनसूयांदमंतपः ।
अहिंसांचानृशंस्यंच विधिवत्परिपालय ॥ ४ ॥
सत्येतिष्ठरतोधर्मे हित्वासर्वमनार्जवम् ।
देवतातिथिशेषेण यात्रांप्राणस्यसंलिह ॥ ५ ॥

भावार्थः—राजा युधिष्ठिरजी भीष्म पितामहजीसे पूछते हैं कि व्यासदेव के पुत्र शुकदेवजीको किस प्रकारके उपदेशको पाकर ज्ञान वैराग्य प्राप्त हुआ, यह बात मैं सुनना चाहता हूं, मुझे आश्चर्य है कि ऐसा प्रबल वैराग्य कैसे हुआ सो कहिये ॥ १ ॥ तब भीष्मजी बोले कि स्वाभाविक प्रयत्नसे निर्भय विचरते हुए शुकदेवजीको व्यासजीने संपूर्ण वेद वेदाङ्गादि पढ़ाके निम्न लिखित रीतिसे शिक्षाकी सो सुनो, व्यासजी बोले कि हे पुत्र ! नित्य ही जितेन्द्रिय रहते हुए धर्मका सेवन करो, प्रबल शीत उष्णादिका सहनारूप उग्र कठोर तप करो, भूख प्यास और वायुको जीतो [जितना चाहे उतनी देर प्राणका रोक सकना ही वायुका जीतना है] ॥ ३ ॥ सत्य बोलना, कोमल वर्ताव, क्रोधका त्याग, किसीकी निन्दा न करना, मनको वशमें रखना, धर्म करनेमें कष्ट सहना, किसी प्राणी को न मारना और विशेषकर मनुष्यों को न सताना इन सब नियमोंका विधि पूर्वक शास्त्राज्ञानुसार पालन करो॥४॥ धर्म करनेमें तत्पर रहते हुए सत्यमार्ग पर डटे रहो, और सब प्रकारकी कुटिलताको त्याग कर पांच महायज्ञ करने पश्चात् शेष बचे अन्नसे प्राण रक्षा करो अर्थात् प्राणकी रक्षा करने मात्र भोजनादि करो विषय वासना वा विषयशक्ति बढ़ाने के लिये भोजनादि जिज्ञासु मुमुक्षुको नहीं करना चाहिये ॥५॥

फेनमात्रोपमेदेहे जीवेशकुनिवत्स्थिते ।
अनित्येप्रियसंवासे कथंस्वपिषिपुत्रक ! ॥ ६ ॥
अप्रमत्तेषुजाग्रत्सु नित्ययुक्तेषुशत्रुषु ।
अन्तरंलिप्समानेषु बालस्त्वंनावबुध्यसे ॥ ७ ॥
अहस्सुगण्यमानेषु क्षीयमाणेतथायुषि ।
जीवितेलिप्स्यमानेच किमुत्थायनधावसि ? ॥ ८ ॥
ऐहलौकिककमोहन्ते मांसशोणितवर्द्धनम् ।
पारलौकिककार्येषु प्रसुप्ताभृशनास्तिकाः ॥ ९ ॥
धर्मायप्रेऽभ्यसूयन्ति बुद्धिमोहान्विताःनराः ।
अपथागच्छतांतेषा-मनुयाताऽपिपीड्यते ॥ १० ॥

व्यासजी कहते हैं कि हे प्रिय पुत्र ! जैसे जलमें फेन पैदा होकर शीघ्र उसी जलमें लय हो जाता है वैसे शरीर पृथ्वीसे प्रकट हो २ कर उसीमें लीन हो रहे हैं। अनियत समयके लिये वृक्ष पर पक्षी आबैठनेके तुल्य इस शरीर रूप पेड़ पर जीव आ बैठा है, पक्षीके तुल्य उड़ जाने वाला है, और स्त्रीपुत्र धनादि प्रिय वस्तुओंका मेल रहने वाला नहीं है, ऐसी दशा देखते हुए भी तुम वेहोश क्यों सो रहे हो ? ॥ ६ ॥ जब कि काम क्रोधादि तुम्हारे शत्रु डाकुओं चोरों के तुल्य सचेत जागते हुए हर एक समय घात लगा रहे और मौका देखरहे हैं तब तुम अज्ञान निद्रामें वेहोश पड़ेहुए क्यों नहीं जागते ?॥७॥ तुम्हारा आयु पल २ में घटता जाता है तुम्हारे शत्रु दिन गिन रहे हैं तुम चाहते हो कि हमारा जीवन बना रहे तब इन लुटेरे कामादि शत्रुओंसे पीछा छुड़ाकर उठकर क्यों नहीं भाग जाते ? ॥८॥ मांस और रुधिर जिनसे बढ़े ऐसे उत्तम २ भोजनादि द्वारा संसारी सुख प्राप्त करनेमें ही जो लोग दिन रात लगे हैं और परमार्थ वा परलोक सम्बन्धी कामोंके विचारसे वेहोश हैं वे ही लोग पूरे वा पक्के नास्तिक हैं ॥ ९ ॥ जो लोग अपनी अज्ञानग्रस्त बुद्धि होनेसे धर्म संबन्धी कामों वा विचारोंका आदर न करना वा अनादर करना रूप धर्मकी निन्दा करते हैं उन कुमार्गमें चलते हुओं का अनुगामी भी पीड़ित होता है । धर्मको भुलाके केवल संसारी भोगोंमें ही दिन रात लगे लोग कुपथ गामी कहाते हैं ॥ १० ॥

येतुतुष्टाःश्रुतिपरा महात्मानोमहाबलाः ।
धर्म्यंपन्थानमारूढास्तानुपास्वप्रपृच्छच ॥ ११ ॥
उपधार्यमतंतेषां बुधानांधर्मदर्शिनाम् ।
नियच्छपरयाबुद्ध्या चित्तमुत्पथगामिवै ॥ १२ ॥
अद्यकालिकयामत्या दूरेश्वइतिनिर्भयाः ।
सर्वभक्षानपश्यन्ति कर्मभूमिमचेतसः ॥ १३ ॥
धर्मनिःश्रेणिमास्थाय किंचित्किंचित्समारुह ।
कोशकारवदात्मानं वेष्टयन्नावबुध्यसे ॥ १४ ॥
नास्तिकंभिन्नमर्यादं कूलपातमिवस्थितम् ।
वामतःकुरुविस्रब्धो नरंवेणुमिवोद्धृतम् ॥ १५ ॥

और जो संतोषी महात्मा धर्म वा परमार्थके कामोंमें परमोत्साही श्रुतियोंके अर्थमें दृढ़ विश्वासी धर्मानुकूल मार्ग पर चलने वाले हैं उनका सत्संग करो और उनसे ज्ञानके मार्गको पूछो अर्थात् अच्छे धर्मनिष्ठ ज्ञानी विद्वान् महात्माओं का सत्संग करके उनसे अपने कल्याणका उपदेश प्राप्त करो ॥ ११ ॥ उन धर्मके तत्त्वदर्शी विद्वानोंका तात्पर्य निश्चय करके धर्म विरुद्ध मार्गमें भटकने वाले अपने चित्तको निश्चित बुद्धिसे वशीभूत करो ॥१२॥ आज तो अच्छे आनन्दमें हैं कल परसोंकी बात दूर है, आगे का शोच क्यों करें, क्यों डरें, ऐसे अज्ञानी सर्वभक्षी लोग कर्म भूमिको नहीं देखते । कर्म भूमि नाम शरीर का है वे लोग अपनी भीतरी दशाको आप ही नहीं देखते हैं ॥ १३ ॥ व्यास जी कहते हैं कि हे पुत्र शुकदेव ! धर्मरूप नसैनी पर खड़े होकर धीरे धीरे ऊपरको चढ़ते जाओ । जैसे रेशम का कीड़ा अपने किये कर्मसे आप ही बन्धनमें आजाता है वैसे तू भी अपने को ही बांधता हुआ नहीं जानता कि मैं आपही अपनेको बांध रहा हूं ॥ १४ ॥ धर्म मर्यादाके नाशक बांसके तुल्य ऊंचे नास्तिक मनुष्यको नदी तटके वृक्षके तुल्य नष्ट होने वाला मानकर विश्वास पूर्वक त्याग दो अर्थात् अधर्मी नास्तिक चाहे धनादि पाकर बढ़ भी गया हो तो भी विश्वास कर लो कि नदी तट के वृक्षके तुल्य उसका शीघ्र नाश होने वाला है इस कारण उसे त्याग दो॥१५॥

कामंक्रोधंचमृत्युंच पञ्चेन्द्रियजलांनदीम् ।
नावंधृतिमयींकृत्वा जन्मदुर्गाणिसंतर ॥ १६ ॥
मृत्युनाभ्याहतेलोके जरयापरिपीडिते ।
अमोघासुपतन्तीषु धर्मपोतेनसंतर ॥ १७ ॥
तिष्ठन्तंचशयानंच मृत्युरन्वेषतेयदा ।
निर्वृतिंलभतेकस्मादकस्मान्मृत्युनाशितः ॥ १८ ॥
संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादायगच्छति ॥ १९ ॥
क्रमशःसंचितशिखो धर्मबुद्धिमयोमहान् ।
अन्धकारेप्रवेष्टव्यं दीपोयत्नेनधार्यताम् ॥ २० ॥

पांच इन्द्रियांरूप जल वाली नदीमें काम क्रोध और मृत्युरूप ग्राहों से बचकर धीरज रूप नौका पर चढ़के जन्म मरणादि रूप कठिनाइयोंके पार हो जाओ ॥ १६ ॥ जब मृत्युसे धड़ाधड़ मनुष्य मारे जा रहे हैं, वृद्धावस्थासे अनेक पीड़ित हो रहे हैं, भयंकर कालरात्रियां चली आ रहीं हैं, ऐसे भयंकर संसार सागरमें धर्म रूप नौका पर चढ़के पार होजाओ ॥ १७ ॥ जब कि खड़े बैठे लेटे हर एक दशामें प्राणीको मृत्यु खोज रहा है, तब अकस्मात् मृत्युके मुखमें जा पड़नेवाले मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है? ॥ १८ ॥ धनादिका संचय करनेमें लगे कामनाओं से तृप्त न होने वाले संसाररूप वनमें सुख खोजते हुऐ मनुष्यको मृत्यु ऐसे ही उठाकर ले जाता है कि जैसे भेड़िया मेढ़ाको उठा लेजावे अर्थात् जैसे भेड़िया जानवरों को ले जाता है वैसे ही मनुष्योंको मृत्यु ले जाता है इस कारण उसे भूलमें नहीं पड़े रहना चाहिये ॥ १९ ॥ जिसकी लौ क्रम २ से बढ़ाई गईहो ऐसे धर्मका संचयरूप महान् दीपकको बड़े यत्न से हाथ में लेकर अन्धकारमें प्रवेश करना चाहिये। अर्थात् जैसे छोटी लौ वाला दीपक हवा लगने से बुझजाता है पर मशाल जल्दी नहीं बुझती वैसे थोड़ा धर्म-विरोधी से दब जाता है प्रबल नहीं। यत्न से न पकड़ा हो तो जैसे ठोकर लगने पर दीपक गिरके बुझ जाता है वैसे ही दृढ़ता से न धारण किये धर्म से भी विधर्मी लोग डिगाके अपने पक्ष में फंसाते हैं इससे धर्मको बड़े प्रयत्नसे पकड़ना चाहिये ॥ २० ॥

संपतन्देहजालानि कदाचिदिहमानुषे।
ब्राह्मण्यंलभतेजन्तुस्तत्पुत्र! परिपालय ॥ २१ ॥
ब्राह्मणस्यतुदेहोऽयं नकामार्थायजायते।
इहक्लेशायतपसे प्रेत्यचानुत्तमंसुखम् ॥ २२ ॥
ब्राह्मण्यंबहुभिरवाप्यतेतपोभिस्तल्लब्ध्वान
रतिपरेणहेलितव्यम्। स्वाध्यायेतपसिदमे
चनित्ययुक्तःक्षेमार्थीकुशलपरःसदायतस्व ॥ २३ ॥
अव्यक्तप्रकृतिरयंकलाशरीरः
सूक्ष्मात्माक्षणत्रुटिशोनिमेषरोमा।
संवास्यःसमबलशुक्लकृष्णनेत्रो,
मासाङ्गोद्रवतिवयोहयोनराणाम् ॥ २४ ॥

भावार्थ–जीव रूप पक्षी अनेक योनियोंके शरीर रूपी जालोंमें पड़ता फंसता हुआ कभी इस मानुषी शरीर जालमें आके ब्राह्मणपनको प्राप्त हो जाता है। हे पुत्र! शुकदेव इस ब्राह्मणपनकी रक्षा करो ॥२१॥ यह ब्राह्मण का शरीर काम सुख और धनैश्वर्यका सुख भोगने के लिये विधाता ने नहीं बनाया है किन्तु इस शरीरसे क्लेश सहन करता हुआ तप करे और जन्मान्तर में अति उत्तम स्वर्ग सुखको प्राप्त करे ॥२२॥ इस जीवको ब्राह्मणपन बहुत तपोबल से प्राप्त होता है उस तपोजन्य ब्रह्मत्व को पाकर रति सुख में लिप्त नहीं होना चाहिये किन्तु नियमसे वेदाध्ययन रूप ब्रह्मयज्ञ, तप और मन को वशीभूत करने रूप दमन करने में नित्यतत्पर क्षेम कुशल होने के लिये सदा यत्न करना चाहिये ॥२३॥ मनुष्यके आयुको घोड़ेकी उपमा दी है यथा अव्यक्तनाम प्रधान ही जिसका उपादान है, कलारूप काल विभाग जिस का शरीर नाम स्थूल भाग है, सूक्ष्म जिसका आत्मानाम स्वरूप है, क्षणमात्र भी जिसके ठहरने में संशय है, निमेषरूप काल विभाग ही जिसके रोम हैं, सम बल वाले शुक्ल कृष्ण पक्ष ही जिसके दो नेत्र हैं, महीने ही जिसके गोड़ पगादि अङ्ग हैं प्राणी मनुष्यादि जिस की रक्षा कर्त्तव्य समझते हैं, ऐसा मनुष्योंका आयु [उमर] रूप घोड़ा निरन्तर दौड़ा चला जाता है ॥ २४ ॥

तंदृष्ट्वाप्रसृतमजस्रमुग्रवेगं गच्छन्तंसततमिहान्ववेक्षमाणम् । चक्षुस्तेयदिनपरप्रणेतृनेयंधर्मेतेभवतुमनःपरंनिशम्य ॥ २५ ॥ येचात्रप्रचलितधर्मकामवृत्ताःक्रोशन्तःसततमनिष्टसंप्रयोगाः । क्लिश्यन्तःपरिगतवेदनाशरीरावह्वीभिःसुभृशमधर्मकारणाभिः२६ राजासदाधर्मपरःशुभाशुभस्यगोप्तासमीक्ष्यसुकृतिनांदधाति-लोकान् । बहुविधमपिचरतिप्रविशतिसुखमनुपगतंनिरव-द्यम् ॥२७॥

व्यासजी कहते हैं कि हे शुकदेव ! बड़े वेग से निरन्तर चलते हुए तथा सबको निरन्तर देखते हुए सब प्राणियों में विस्तृत उस पूर्वोक्त आयुरूप घोड़े को भागा जाता देखकर यदि अन्धेके तुल्य अन्योंके सहारे पर चलनेका तुम्हारा ज्ञान नहीं है तो पर आत्मतत्त्वको सुन जानके तुम्हारा मन, धर्ममें ही लगे ॥२५॥ इस जगत्में धर्मानुकूल कामसेवन से जो गिर गये पतित हो गये हैं अर्थात् व्यभिचारादि में प्रवृत्त हैं, जो निरन्तर अपने विरोधियों को कोशते हैं जो अनिष्ट दुःखको प्राप्त हो रहे हैं, नरक का दुःख भोगनेके लिये नारकी शरीर जिनको प्राप्त हुआ है बहुत से अधर्मके कामोंसे जो निरन्तर क्लेश पा रहे हैं उनको देखकर अधर्मसे वचो ॥२६॥ जो राजा सदा ही धर्म परायण होता, धर्मकी रक्षा करता अधर्मियोंको दण्ड देता, अच्छे २ संसार के उपकारी काम करने वालों को उत्तम २ अधिकार और पारितोषिक [इनाम] देता, बहुत प्रकार से नाम बहुत रूपों से विचारता है अर्थात् साम दाम दण्ड भेदादिसे काम लेने के लिये नानारूप होता इससे राजा अपूर्व प्रशस्तसुख को पा सकता है अर्थात् क्षत्रियादि लोग अपने २ कर्त्तव्य का ठीक २ पालन करें और ज्ञान वैराग्य नहीं भी प्राप्त करें तो भी उनका कल्याण हो सकताहै परन्तु ब्राह्मणको ज्ञान वैराग्यकी प्राप्ति अवश्य करनी चाहिये ॥२७॥

श्वानोभीपणकायाअयोमुखानिवयांसिवलगृध्रकुलंप-क्षिणांचसंघाः । नरकदनेरुधिरपागुरुवचननुदमुपरतंविश-न्त्यसन्तः ॥ २८ ॥ मर्यादानियताःस्वयम्भुवायइहेमाःप्रभिन-त्तिदशगुणामनोऽनुगत्वात् । निवसतिभृशमसुखंपितृविषय-

विपिनमवगाह्य सपापः ।.२९॥ योलुब्धःसुभृशंप्रियानृतश्चमनु-
ष्यःसततनिकृतिर्वञ्चनाभिरतिःस्यात् । उपनिधिभिरसुखकृ-
त्सपरमनिरयगोभृशमसुखमनुभवतिदुष्कृतकर्मा ॥ ३० ॥

जो मनुष्य कल्याणका मार्ग बताने वाले माता पितादि गुरुओंके हितो-पदेशका अनादर करते हैं उनको नर नाम मनुष्य जहां चिल्लाते हैं उस नर-कदन नरकमें रुधिर पीने वाले भयङ्कर शरीरधारी श्वान, लोहे के मुखों वाले पक्षी, बलवान् गीधपक्षी तथा अन्य अनेक पक्षी मरने पर उन मनुष्योंको नोंचते खाते हैं अर्थात् हितोपदेष्टा पितादिके वचनको न मानने वाले नरकों में बड़े २ महान् दुःख पाते हैं इससे हे पुत्र तुम मेरी शिक्षाको सादर स्वी-करो ॥ २८ ॥ विधाताने वेदादिशास्त्रोंके द्वारा दश प्रकार की धर्म [शरीर से दान, रक्षा, गुरुसेवा, वाणीसे—सत्य-हित-प्रिय-जप, मनसे—दया सन्तोष और श्रद्धा, ये दश वा धृतिक्षमादि दश अथवा पांच अहिंसादि यम औरपांच शौचादि नियम ये दश] मर्यादा नियतकी हैं उन धर्म मर्यादाओंको जो मन मानी करता हुआ तोड़ता है अर्थात् धर्मसे विरुद्ध काम करता है वह पापी यमलोक में असिपत्रवनादि नरकोंका अवगाहन करके दुःख भोगता हुआ वहीं निवास करता है ॥२९॥ जो मनुष्य निरन्तर कोमल असत्य भाषी लोभी निरन्तर नीच कर्मों में तत्पर, चोरी ठगी आदि करने में रुचि रखनेवाला छल प्रपञ्च रचना द्वारा दुःखके मार्गमें प्रवृत्त और पापकर्म करने वाला है वह बड़े २ घोर नरकोंमें जाकर निरन्तर दुःख का अनुभव करता है । इस कारण मनुष्यको डरकर उक्त प्रकारके अधर्मोंको छोड़ना और धर्म मर्यादाको कभी तोड़ना नहीं चाहिये ॥ ३० ॥

उष्णांवैतरणींमहानदीमपगाढोऽसिपत्रवनभिन्नगात्रः ।
परशुवनशयोनिपतितोवसतिचमहानिरयेभृशार्त्तः ॥३१॥
महापदानिकत्थसे नचाप्यवेक्षसेपरम् ।
चिरस्यमृत्युकारिकां—मनागतांनबुध्यसे ॥३२॥
प्रयायतांकिमास्यते समुत्थितंमहद्भयम् ॥
अतिप्रमाथिदारुणं सुखस्यसंविधीयताम् ॥३३॥

पुरामृतःप्रणीयते यमस्यराजशासनात् ॥
त्वमन्तकाय दारुणैः प्रयत्नमार्जवे कुरु ॥ ३४ ॥
पुरासमूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यदुःखवित् ।
तवेहजीवितंयमो नचास्तितस्यवारकः ॥ ३५ ॥

काम क्रोध लोभसे होने वाले पाप कर्मोंके सेवन से प्राणी मरने के पश्चात् गरम वैतरणी महानदीमें घुसाया जाता, तलवारें हीं जिसमें पत्ते हैं ऐसे नरक वनमें घुमाने से हाथ पांव आदि अङ्गकटजाते हैं, तथा फरसोंका जिसमें वन है ऐसे नरकमें फेंका जाता है और महान् नरक में निरन्तर दुःख पाता हुआ बसता है ॥३१॥ इत्यादि पूर्व कथनका आशय यही है कि ऐसे भयंकर नरकोंसे डरके धर्मानुष्ठान करो । अब कहते हैं कि स्वर्गादि भोगोंका भी लालच त्यागो ब्रह्मलोक वा अमरावती सुरेन्द्रभवन आदि बड़े बड़े अधिकारों की तुम प्रशंसा करते हो परन्तु परब्रह्म परमात्माको जानने का उद्योग नहीं करते । व्यासजी कहते हैं कि हे पुत्र शुक ! चिरकालसे आने वाली मृत्युका हेतु वृद्धावस्थाको तुम नहीं जानते कि वृद्धावस्था अपने मृत्यु मुखमें तुमको खाने के लिये आरही है ॥३२॥ हे पुत्र ! क्या बैठे हो ! इन संसारी भोगोंसे दूर भाग जाओ मोक्ष मार्ग का प्रस्थान करो विषयों में अति पीड़ित करने वाला दारुण महाभय उपस्थित हो रहा है । जैसे भयंकर अन्धकूपमें गिरजाने पर वहांसे निकलना कठिन है वैसी ही दशा विषयोंमें फंसने पर होती है । इससे सुख प्राप्ति का प्रयत्न करो ॥ ३३ ॥ यमराजकी आज्ञासे प्रत्यक्षमें प्राणी मरते जाते हैं, सबके सामने श्मशानमें लेजाते हैं इस लिये तुम भावी कल्याणके लिये कठिन कृच्छ्रादि व्रतोंके द्वारा पुण्यके लिये उपाय करो ॥ ३४ ॥ प्राणियोंके दुःख को न देखने वाले प्रभु यमराज पिता माता बन्धुओं सहित तेरे जीवनको सबके सामने हर लेते नष्ट करते हैं उन यमराजको रोकने वाला कोई नहीं है इससे चेतो ॥ ३५ ॥

पुराभिवातिमारुतो यमस्यथःपुरस्सरः ।
पुरैकएवनीयसे कुरुष्वसाम्परायिकम् ॥ ३६ ॥
पुरासहिक्कएवते प्रवातिमारुतोऽन्तकः ।
पुराचविभ्रमन्तिते दिशोमहाभयागमे ॥ ३७ ॥

श्रुतिश्चसंनिरुध्यतेपुरातवेहपुत्रक ।
समाकुलस्यगच्छतः समाधिमुत्तमंकुरु ॥ ३८ ॥
शुभाशुभेपुराकृते प्रमादकर्मविप्लुते ।
स्मरन्पुरानतप्यसे विधत्स्वकेवलंनिधिम् ॥ ३९ ॥
पुराजराकलेवरं विजर्जरीकरोतिते ।
बलाङ्गरूपहारिणीं निधत्स्वकेवलंनिधिम् ॥ ४० ॥

यमराजका साथी वायु सामने ही वहरहा है सबके सामने तुम आदि प्राणी एक ही ले जाया जाता है इस कारण जीवनहरण होनेसे पहिले परलोकके हितकारी धर्मका संचय करो ॥ ३३ ॥ वह जीव कहां है ? इसप्रकार खोजता हुआ वायुरूप यमराज तेरे सामने ही चलरहा है और मृत्युरूप महाभय लानेके लिये वे प्राणियोंके मारक यमदूत सब दिशाओंमें सबके सामने भ्रमण करते हैं परन्तु प्राणियोंके अज्ञानग्रस्त होनेसे नहीं दीखते हैं ॥३७॥ व्यासजी कहते हैं कि हे पुत्र शुकदेव ! विषयोंमें व्यग्र चित्त वा व्याकुल चित्त होने पर तुम्हारी श्रवणशक्ति भी रुकजाती है अथवा मृत्युसे पहिले श्रवणशक्ति नष्ट होजाती है इससे उत्तम समाधि कर ॥३८॥ प्रमाद कर्मोंसे लिप्त शुभ अशुभ नाम पुण्य पाप जो पहिले तुमने किये हैं उनका स्मरण करते हुए तुम अन्यकर्म करनेसे पूर्व पश्चात्ताप क्यों नहीं करते ? । इससे केवल धर्मकोषका विधान नाम संग्रह करो ॥ ३९ ॥ हे शुकदेव ! तुम्हारे शरीरको वृद्धावस्था पहिले निर्बल करती है वह जराऽवस्था बल अङ्ग नाम इन्द्रियशक्ति और सुरूपको हरने वाली है इसलिये केवल धर्मकोषकी स्थापना करो ॥४०॥ मनुष्यके सामने ही ऐसे २ भयङ्कर मरणादि काम हो रहे हैं तो भी मनुष्य बेहोशी को त्यागकर चेतता नहीं है यही आश्चर्य है ॥

पुराशरीरमन्तको भिनत्तिरोगसारथिः ।
प्रसह्यजीवितक्षये तपोमहत्समाचर ॥ ४१ ॥
पुरावृकाभयङ्करा मनुष्यदेहगोचराः ।
अभिद्रवन्तिसर्वतो यतस्वपुण्यशीलने ॥ ४२ ॥
पुरान्धकारमेककोऽनुपश्यसित्वरस्ववै ।

पुराहिरण्मयान्नगान्निरीक्षसेऽद्रिमूर्द्धनि ॥ ४३ ॥
पुराकुसंगतानिते सुहृन्मुखाश्चशत्रवः ।
विचालयन्तिदर्शनाद्द्रु घटस्वपुत्र ! यत्परम् ॥ ४४ ॥
धनस्ययस्यराजतो भयंनचास्तिचौरतः ।
मृतञ्चयन्नमुञ्चति समर्जयस्वतद्धनम् ॥ ४५ ॥

रोग है सारथि जिनका ऐसे यमराज जीवनको नष्ट करनेके लिये मनुष्य के शरीरको सबके सामने बलात्कारसे नष्ट करते नाम मारते हैं इसलिये हे शुकदेव ! उग्र वा घोर तप करो ॥४१॥ मानुषीदेह सम्बन्धी कामादि विषय भेड़ियाके तुल्य खा लेने वाले भयंकर सब ओरसे सन्मुख प्रत्यक्ष चले आ रहे हैं। पुण्य धर्म करनेका अधिक अभ्यास ही विषयरूप शत्रुओंसे बचाता है इसलिये धर्म करनेमें लगजा ॥४२॥ संसारकी घटना पर ध्यान दो तो आगे प्रत्यक्ष अन्धकार दीखता है इससे सुकृत करनेमें शीघ्रता करो। जब मरण-काल समीप आता है तब पहाड़की चोटियों पर सुवर्णके वृक्ष सामने दीखते हैं ॥ ४३ ॥ व्यासजी कहते हैं कि हे पुत्र शुकदेव ! तुमको वा तुम्हारी बुद्धि को मुखपर मिठबोला पीछे जड़कट शत्रु लोग और बुरी संगतियां प्रत्यक्ष में ही ज्ञानमार्गसे विचलित करती हैं इससे परमपद प्राप्तिका उपाय करो॥४४॥ जिस धनको राजा वा चोर नहीं ले सकता और जो मरने पर भी साथ नहीं छोड़ता किन्तु साथ जाता है, हे पुत्र ! उस ज्ञान विज्ञान रूप धनको संचित करो। इस संसारमें मनुष्यके लिये सैकड़ों विपत्तियोंके आनेका भय प्रतिक्षण लगाहुआ है उससे बचाने वाला धर्मानुष्ठान और विद्याज्ञान प्राप्तिकी विशेष चेष्टा ही है इसलिये पुण्य धर्म करनेमें लगजाना चाहिये यही दुःखोंका औषध है ॥ ४५ ॥

नतत्रसंविभज्यते स्वकर्मभिःपरस्परम् ।
यदेवयस्ययौतकं तदेवतत्रसोऽश्नुते ॥ ४६ ॥
परत्रयेनजीव्यते तदेवपुत्र ! दीयताम् ।
धनंयदक्षरंध्रुवं समर्जयस्वतत्स्वयम् ॥ ४७ ॥
नयावदेवपच्यते महाजनस्ययावकम् ।

अपक्कएवयावके पुराप्रलीयसेत्वर ॥ ४८ ॥
नमातृपुत्रबान्धवा नसंस्तुतःप्रियोजनः ।
अनुव्रजन्तिसंकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥ ४९ ॥
यदेवकर्मकेवलं पुराकृतंशुभाशुभम् ।
तदेवपुत्रसार्थिकं भवत्यमुत्रगच्छतः ॥ ५० ॥

जैसे विवाहके समय दहेजमें प्राप्त हुए यौतक नामी धनमें से अन्यभाई हिस्सा नहीं ले सकते जिसको वह यौतक दहेज धन मिलता है वही उसे भोगता है वैसे ही विद्या धनमें भी कोई हिस्सेदार नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥ परलोक में जिस से सहायता मिले, हे पुत्र ! वही विद्यादान यहां देना चाहिये जो विद्याधन अचल अविनाशी है उस का स्वयं अपने लिये भी तुम उपार्जन अवश्य करो ॥ ४७ ॥ कुछ लोग ऐसा विचार किया करते हैं कि संसारी भोग भोगकर पीछे अन्तमें परमार्थका विचार करलेंगे सो ऐसा विचार ठीक नहीं क्योंकि भोग प्राप्त कर पानेसे पहिले ही मृत्युरूप ग्राह घसीट लेता है । किसी महापुरुषने शीरा वा हलुआ पकाने का आरम्भ किया जबतक वह भोजन नहीं पकपाया तभीतक यमराजका वारण्ट लेकर यमदूत आगये। इसलिये हे पुत्र ! शीघ्रतासे घोर तप करो जिस तपोमय किलेमें यमदूत प्रवेश नहीं कर सकते हैं ॥४८॥ जब मनुष्यके ऊपर मरणभयका महासंकट उपस्थित होजाता है तब उस मरते हुए एकप्राणीके साथ मातापुत्र वा प्रेमी मित्र इत्यादि कोई भी नहीं जाता ॥ ४९ ॥ व्यासजी कहते हैं कि हे पुत्र शुकदेव ! जो पुण्य पापरूप शुभाशुभ कर्म पहिले तुम करचुके हो केवल वेही साथी बनके परलोकमें साथ जाते हैं । इसलिये मनुष्यको परलोकमें सहायता करने के लिये कुछ धर्मका सञ्चय अवश्य करना चाहिये ॥ ५० ॥

हिरण्यरत्नसञ्चयाः शुभाशुभेनसञ्चिता ।
नतस्यदेहसंक्षये भवन्तिकार्यसाधकाः ॥ ५१ ॥
परत्रगामिकस्यते कृताकृतस्यकर्मणः ।
नसाक्षिआत्मनासमो नृणामिहास्तिकश्चन ॥ ५२ ॥
मनुष्यदेहशून्यकं भवत्यमुत्रगच्छतः ।

प्रविश्यबुद्धिचक्षुषा प्रदृश्यतेहिसर्वशः ॥ ५३ ॥
इन्द्राग्निसूर्यवायवः शरीरमाश्रिताश्चयः ।
तएवतस्यसाक्षिणो भवन्तिधर्मदर्शिनः ॥ ५४ ॥
अहर्निशेषुसर्वतः स्पृशत्सुसर्वचारिषु ।
प्रकाशगूढवृत्तिषु स्वधर्ममेवपालय ॥ ५५ ॥

शुभ अशुभ कर्म करने द्वारा जिन लोगोंने सुवर्ण रत्नादि धनका संचय किया है उनका अन्तकाल होनेके समय वह धन कार्य्यसाधक नहीं होता ॥५१॥ परलोकमें जाने नाम मरनेके स्वभाव वाले कुछ किये कुछ न किये तेरे शुभाशुभ कर्मका साक्षी आत्माके तुल्य मनुष्योंमें अन्य कोई नहीं है। इससे ऐसा कदापि नहीं मानना चाहिये कि यहां एकान्त में मुझको कोई नहीं देखता इसलिये छिपकर पाप न करे [साक्षि–आत्मना] इसमें [इकोऽसवर्णेशाकल्यस्यह्रस्वश्च] सूत्रद्वारा प्रकृतिभाव और ह्रस्व होनेसे सन्धि नहीं हुआ ॥५२॥ मृत्युके समय कर्त्ता भोक्तारूप मनुष्य का शरीर साक्षी आत्मा में लीन होता हुआ शून्यसा हो जाता है। कारणात्मदृष्टिसे विद्यमान होने पर भी स्थूलदृष्टिसे मानुषदेह नष्ट होजाता है परन्तु योगी विद्वानों को ज्ञानचक्षुसे वही मानुष शरीर सूक्ष्मरूपमें दीखता है ॥ ५३ ॥ इस जगत्में अग्नि वायु और सूर्य ये तीनों मुख्य देवता सर्वत्र व्यापक हैं। तदनुसार प्रत्येक शरीरमें भी विद्यमान रहते हुए धर्मदर्शी धर्मात्मा पुरुषको अग्न्यादि देव अपने साक्षी मानने चाहिये। मनुजीने कहा है कि [तांस्तु देवाः पश्यन्ति] उन छिपके पाप करने वालोंको ये ही अग्न्यादि देव देखते हैं ऐसा दृढ़ विश्वास होजाय तो छिपकर कोई पाप न करे ॥ ५४ ॥ दिनरात्रिरूपकालविभागोंके कालाभिमानी कालात्मक देव भी अधिष्ठानरूपसे प्रसिद्ध और अभिमानी देवरूपसे गुप्तकालात्मक देव सबके सर्वत्र साक्षी हैं इससे भी अपना धर्म करो छिपके पाप कभी मत करो ॥ ५५ ॥

अनेकपारिपन्थिके विरूपरौद्रमाक्षिके ।
त्वमेवकर्मरच्यतां स्वकर्मतत्रगच्छति ॥ ५६ ॥
नतत्रसंविभज्यते स्वकर्मणापरस्परम् ।
तथाकृतंस्वकर्मजं तदेवभुज्यतेफलम् ॥ ५७ ॥

यथाऽप्सरोगणाःफलं सुखंमहर्षिभिःसह ।
तथाऽऽप्नुवन्तिकर्मजं विमानकामगामिनः ॥५८॥
यथेहयत्कृतंशुभं विपाप्मभिःकृतात्मभिः ।
तदाप्नुवन्तिमानवास्तथाविशुद्धयोनयः ॥ ५९ ॥
प्रजापतेःसलोकतां बृहस्पतेःशतक्रतोः ।
व्रजन्तितेपरांगतिं गृहस्थधर्मसेतुभिः ॥ ६० ॥

विरूप भयङ्कर वा घृणित मलिन मल मूत्र काम क्रोधादि अनेक शत्रु मनुष्य के कल्याण में विघ्न डालने वाले हैं। इससे स्वयं धर्म करना चाहिये अपना ही किया धर्म वहां जाता है ॥ ५६ ॥ अपने किये पुण्य धर्म में से वहां जन्मान्तर में कोई बांट नहीं ले सकता अपना २ कर्म जैसा २ शुभाशुभ किया होता है वैसा ही फल उस २ को मिलता है ॥ ५७ ॥ जैसे महर्षियोंके साथ अप्सराओं को स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है वैसा ही कामरूप विमान पर जाने वाले मनुष्यों को भी अपने २ दान पुण्य यज्ञादि कर्म का फल महर्षियों के साथ सत्संग दर्शनादि से होता है। स्थूल महाभूतों के शरीरों वाली कोई अप्सरा नहीं हैं किन्तु सिद्ध सूक्ष्म दिव्य रूपअप्सराओं को महर्षियों के सत्संग से समाधिजन्य मानससुख होना इष्ट है ॥ ५८ ॥ शुद्ध जितेन्द्रिय लोग जिस प्रकार इस जन्ममें पुण्य धर्म करते हैं उसका शुभ फल परलोक में उन को उसी प्रकार से प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥ गृहस्थ ब्राह्मणादि लोग गृहस्थधर्म का ठीक २ सेवन करके उसी धर्म रूप पुल के द्वारा ब्रह्म लोक बृहस्पतिलोक और इन्द्रलोकादि में परमोत्तम स्वर्गाधिकारों को प्राप्त होते हैं । यह स्वर्गीय आनन्द मोक्ष की अपेक्षा निकृष्ट होने पर भी मानुष भोगापेक्षया बहुत बड़ा उत्तम आनन्द होता है ॥ ६० ॥

सहस्रशोऽप्यनेकशः प्रवक्तुमुत्सहामते ।
अबुद्धिमोहनःपुनः प्रभुर्निनायपावकः ॥ ६१ ॥
गतात्रिरष्टवर्षता ध्रुवोऽसिपञ्चविंशकः ।
कुरुष्वधर्मसंचयं वयोहितेऽतिवर्त्तते ॥ ६२ ॥
पुराकरोतिसोऽन्तकः प्रमादगोऽमुखांचमूम् ।

यथागृहीतमुत्थितस्त्वरस्वधर्मपालने ॥ ६३ ॥
यथात्वमेवपृष्ठतस्त्वमग्रतोगमिष्यसि ।
तथागतिंगमिष्यतः किमात्मनापरेणवा ॥ ६४ ॥
यदेकपातिनास्तता भवत्यमुत्रगच्छता ।
भयेषुसांपरायिकं निधत्स्वकेवलंनिधिम् ॥ ६५ ॥

व्यास जी कहते हैं कि हे पुत्र शुकदेव ! हम सहस्रों वा अनेक प्रकारों से ऐसा परमज्ञान धर्म का उपदेश तुम को कर सकते हैं निर्बुद्धि मनुष्यों को मोहित करने और बुद्धिमान् धर्मात्माओं को पवित्र करने में समर्थ धर्म ही सब संसार को चलाता है ॥ ६१ ॥ हे शुकदेव तुम २४ चौवीश वर्ष के हो चुके पच्चीसवां वर्ष विद्यमान है तुम धर्म का संचय करो अवस्था तुम्हारी दिन २ बीती जा रही है ॥ ६२ ॥ हे पुत्र ! प्रमादयुक्त पुरुषों के यहां गमन करने वाला वह यमराज सब के सामने जब तक तेरी इन्द्रिय सेना को अमुखा नाम भोग हीन मृतप्राय न कर पावे अर्थात् मृत्यु आकर न दवाले तभी तक ग्रहण किये शरीर रक्षा करते हुए उठो चेतो और धर्मपालन में शीघ्रता करो ॥ ६३ ॥ जिस प्रकार आगे और पीछे तुम ही एक आत्मा को जान लोगे तब आगे पीछे दोनों गतियों के गमन कर्त्ता होगे तब अन्य भाव मिट जायगा । तब अपने शरीर तथा पुत्रादि के साथ भेद मिट जायगा । ॥६४॥ अनेक प्रकार के भय उपस्थित होने पर किसी को साथी न बना के परलोक को एकाकी जाते हुए तुम परलोक के हितकारी शुद्ध निष्काम वा निर्गुण धर्म वा ज्ञान रूप कोश नाम खजाने को स्थापित वा सुरक्षित करो अर्थात् शुद्ध ज्ञान वा धर्म को ही खजाने के तुल्य रक्षा करो ॥ ६५ ॥

सकूलमूलवान्धवं प्रभुर्हरत्यसङ्गवान् ।
नसन्तितस्यवारकाःकुरुष्वधर्मसन्निधिम् ॥ ६६ ॥
इदंनिदर्शनंमया तवेहपुत्रसाम्प्रतम् ।
स्वदर्शनानुमानतः प्रवर्णितंकुरुष्वतत् ॥ ६७ ॥
दधातियःस्वकर्मणा ददातियस्यकस्यचित् ।
अवुद्धिमोहजैर्गुणैः सएकएवयुज्यते ॥ ६८ ॥

श्रुतंसमस्तमश्नुते प्रकुर्वतःशुभाःक्रियाः ।
तदेतदर्थदर्शनं कृतज्ञमर्थसंहितम् ॥ ६९ ॥
निबन्धनीरज्जुरेषा याग्रामेवसतोरतिः ।
छित्त्वैतांसुकृतोयान्ति नैनांछिन्दन्तिदुष्कृतः ॥७०॥

बालक, वृद्ध और तुल्यावस्था वाले युवाओंके सहित सभी मनुष्यादिको किसी से मेल वा प्रेम न रखने वाले प्रभु यमराज हर लेते अर्थात् मार डालते हैं किन्तु वृद्धों को ही मारें ऐसा नियम नहीं है उन यमराज को कोई भी रोकने वाले नहीं हैं इससे हे शुक! तुम धर्म के गढ़ में घुसो ॥ ६६ ॥ हे पुत्र! हमने देखे वा अनुमान किये के अनुसार इस समय यह थोड़ा सा दिग्दर्शन मात्र हितोपदेश वर्णन किया है उस का तुम पालन करो सुनलेने मात्र से इष्ट की सिद्धि नहीं होगी ॥ ६७ ॥ जो मनुष्य अपने परिश्रम से अपने शरीर को पुष्ट करता है और जिस किसी फल की प्राप्ति के लिये दान धर्मादि भी करता है वह अज्ञान और विपरीत ज्ञान से होने वाले दुःखादि बन्धनों से एक ही युक्त होता है अर्थात् एक ही दुःख भागी होता है ॥६८॥ नित्य २ शुभ पुण्य कर्मों का ही प्रारम्भ करते हुए मनुष्य का वेदोक्त ज्ञान समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाता है सो यह सर्वात्मता होना ही मोक्षाख्य परम पुरुषार्थ का दर्शन है अन्य नहीं, सर्वज्ञता और सर्वात्मता को देने वाली इस विद्या का उपदेश कृतज्ञ को ही कर्त्तव्य है कृतघ्न को नहीं ॥ ६९ ॥ गांव नाम अधिक जन समुदाय सघन वस्ती बड़े शहर में जो वसने की रुचि है, वही बांधने वाली रस्सी है पुण्यात्मा लोग इस रस्सी का छेदन कर डालते और पापी लोग इस इच्छा रूप बन्धन को नहीं काट पाते हैं अर्थात् परमार्थी को एकान्त सेवन की रुचि बढ़ानी चाहिये ॥ ७० ॥

किन्तेधनेनकिंबन्धुभिस्ते किन्तेपुत्रैःपुत्रकयोमरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छगुहांप्रविष्टंपितामहास्तेक्कगताश्चसर्वे ॥७१॥
श्वःकार्यमद्यकुर्वीतपूर्वाह्णेचापराह्णिकम् ।
नहिप्रतीक्षतेमृत्युः कृतंवास्यनवाकृतम् ॥ ७२ ॥
अनुगम्यविनाशान्ते निवर्त्तन्तेहबान्धवाः ॥

अग्नौप्रक्षिप्यपुरुषं ज्ञातयःसुहृदस्तथा ॥ ७३ ॥
नास्तिकान्निरनुक्रोशान्नरान्पापमतेस्थितान्
वामतःकुरुविस्तब्धं परंप्रेप्सुरतन्द्रितः ॥ ७४ ॥
एवमभ्याहतेलोके कालेनोपनिपीडिते ।
सुमहद्धैर्यमालम्ब्य धर्मंसर्वात्मनाकुरु ॥ ७५ ॥

व्यास जी कहते हैं कि हे पुत्र शुक ! जब कि तुझ को मरण समय धन पुत्रादि वेवश छोड़ने ही पड़ेंगे तब इन धन पुत्रादि से तेरा क्या प्रयोजन है? अर्थात् धनादि का लालच त्याग के और हमारे पितामहादि जैसे न रहे वैसे मुझे भी यहां रहना नहीं ऐसा शोचकर गूढ़ आत्मतत्त्वको खोजकर॥७१॥ कल करने के काम को आजकर और मध्याह्न के बाद करने के काम को मध्यान्ह से भी पहिले कर क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखता कि इस का काम हो चुका वा शेष पड़ा है॥७२॥ मनुष्य के मरने पर उसको श्मशान के चितास्थ अग्नि में प्रज्वलित होते छोड़ कर कुटुम्बी मित्र और भाई बन्धु सब लौट आते हैं ॥ ७३ ॥ पापकर्म करने में दत्त चित्त निर्दयी और अनीश्वरवादी तथा वेद विरोधी नास्तिक मनुष्यों को (विश्वास रखता हुआ कि इन का संग होने से दुःख ही होगा) त्याग दे और आलस्य निद्रा छोड़के परमात्म प्राप्ति का उपाय कर ॥ ७४ ॥ कोई रोगपीड़ा से कोई राजदण्ड से, कोई अन्न धनादि के न मिलने से कोई चोरी हो जाने से और कोई प्रियवियोग के दुःख से शिर धुन २ के रो रहा है इत्यादि अनेक प्रकारों से लोगों को नष्ट भ्रष्ट होते और मृत्युकाल से पीड़ित होते देख २ कर बड़े धैर्य से कटिबद्ध होकर सर्वात्मा से धर्म करना आरम्भ कर अर्थात् जप तप पाठ पूजन में लगजा ॥ ७५ ॥

अथेमंदर्शनोपायं सम्यग्योवेत्तिमानवः ।
सम्यक्स्वधर्मंकृत्वेह परत्रसुखमश्नुते ॥ ७६ ॥
नदेहभेदेमरणंविजानतां नचप्रणाशःस्वनुपालितेपथि ।
धर्मंहियोवर्द्धयतेसपण्डितो यएवधर्माच्च्यवतेसमुह्यति॥७७॥
प्रयुक्तयोःकर्मपथिस्वकर्म्मणोःफलंप्रयोक्तालभतेयथाकृतम्

निहीनकर्मानिरयंप्रपद्यतेत्रिविष्टपंगच्छतिधर्मपारगः॥७८॥
सोपानभूतंस्वर्गस्य मानुष्यंप्राप्यदुर्लभम् ।
तथात्मानंसमादध्याद्भ्रश्यतेनपुनर्यथा ॥७९॥

अब इस आगे कहे ज्ञानके उपायको जो मनुष्य ठीक २ जानता है वह इस जन्ममें सम्यक् अपने धर्मको करके परलोकमें सुखका भागी होता है ॥७८॥ शरीर बदल जाने पर भी समझदार विज्ञानियों का मरण नहीं होता अर्थात् जिनको दृढ़ विश्वास है कि घर वा वस्त्रोंके तुल्य शरीर बदलता है और मैं चेतनात्मा नष्ट नहीं होता उसका मरणभय छूट जाता है। और धर्म दर्शी शिष्ट पुरुषों के बताये मार्ग पर चलने वाले का नाश वा हानि कदापि नहीं होती ऐसा विश्वास वा निश्चय होजाना भी बड़ा हितसाधक है। जो पुरुष धर्मको दिन २ बढ़ाता है वही पण्डित वा विद्वान् है और जो धर्म से गिरता है वही अज्ञानान्धकूपमें गोते खाता है ॥७७॥ अपने श्रौतस्मार्त्त वा अभ्युदय--और निःश्रेयस इन दो प्रकार के अपने कर्मों को कर्मपथ नाम शास्त्रोक्त वा शिष्टाचारीति पर निर्भर करता है उसको कर्मका यथावत् नियत उत्तम फल अवश्य होता है इसमें कुछ सन्देह नहीं और धर्मके पारजाने वाला मनुष्य स्वर्गको प्राप्त हो जाता है। धर्म के पार जाना यही है कि मानस वाचिक कायिक तीनों प्रकारके दश विध धर्मसे क्षण भर भी न डिगे और दश विध अधर्मसे प्रति क्षण बचता ही रहे ॥७८॥ स्वर्गकी सीढ़ी रूप मनुष्य जन्म पाकर अपने को ऐसी सावधानीसे सम्हालना चाहिये कि जिससे फिर इस सीढ़ी से नीचे तिर्यगादियोनि में सहस्रों लाखों वर्षके लिये न गिरजावे ॥ ७९ ॥

यस्यनोत्क्रामतिमतिः स्वर्गमार्गानुसारिणी ।
तमाहुःपुण्यकर्माणमशोच्यंपुत्रबान्धवैः ॥८०॥
यस्यनापहताबुद्धिर्निश्चयेह्यवलम्बते ।
स्वर्गेकृतावकाशस्य नास्तितस्यमहद्भयम् ॥८१
तपोवनेषुयेजातास्तत्रैवनिधनंगताः ।
तेषामल्पतरोधर्मः कामभोगानजानताम् ॥ ८२ ॥
यस्तुभोगान्परित्यज्य शरीरेणतपश्चरेत् ।

नतेनकिञ्चिन्नप्राप्तं तन्मेबहुमतंफलम् ॥ ८३॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानिच ।
अनागतान्यतीतानि कस्यतेकस्यवावयम् ॥८४॥

स्वर्गमार्गका अनुसरण करने वाली जिस मनुष्य की मति बुद्धि धर्मका उल्लङ्घन नहीं करती पुत्र और बान्धवों से शोच न करने योग्य उस मनुष्य को विद्वान् लोग पुण्यात्मा कहते हैं ॥८०॥ जिस मनुष्यकी बुद्धि काम क्रोधादि से नष्ट भ्रष्ट नहीं होती किन्तु दृढ़ निश्चय के साथ धर्म पर आरूढ़ रहती है और जिसने स्वर्गमें अपना दखल शुभ कर्म संचय द्वारा कर लिया है उसके लिये मरणानन्तर नरकादि का बड़ा भय नहीं है॥ ८१॥ जो लोग तपोवनों में ही उत्पन्न हुए और वहीं तप करते २ मृत्यु को प्राप्त हो गये संसारी विषय भोगोंका चस्का जिनको नहीं लगा भोगों का मर्म जिन ने नहीं जाना अर्थात् विषय भोग की खुजली जिनको नहीं लगी उनका धर्म थोड़ा वा छोटा है ॥८२॥ परन्तु जिनको विषय भोगोंकी खुजली वा चस्का लग चुका है जो मनुष्य विषयों में फंस चुके हैं वे यदि विषयोंके महा दलदलसे निकलकर अर्थात् विषय भोगोंको त्याग के शरीरसे तप करें तो उनको बड़ा धन्यवाद है उनको जानो सभी प्राप्त होगया ॥ ८३ ॥ माता पिता स्त्री पुत्र इष्ट मित्र इत्यादि सहस्रों वा असंख्य हो चुके और आगे असंख्य माता पितादि होंगे तथा सहस्रों असंख्योंके माता पिता स्त्री पुत्र हम भी हुए और होंगे परन्तु विचार पूर्वक शोचो तो कोई भी किसी का माता पिता स्त्री पुत्रादि नहीं सिद्ध होता इससे मोहमें मत फंसो ॥ ८४ ॥

अहमेकोनमेकश्चिन्नाहमन्यस्यकस्यचित् ।
नतंपश्यामियस्याहं नतंपश्यामियोमम ॥८५॥
नतेषांभवताकार्य्यं नकार्य्यंतवतैरपि ।
स्वकृतैस्तानिजातानि भवांश्चैवगमिष्यति ॥८६॥
इहलोकेहिधनिनां स्वजनःस्वजनायते ।
स्वजनस्तुदरिद्राणां जीवतामपिनश्यति ॥८७॥
संचिनोत्यशुभंकर्म कलत्रापेक्षयानरः ।

ततःक्लेशमवाप्नोति परत्रेहतथैवच ॥८८॥
पश्यतिच्छिन्नभूतंहि जीवलोकंस्वकर्म्मणा ।
ततकुरुष्वतथापुत्र कृत्स्नंयत्समुदाहृतम् ॥८९॥

इसी पूर्वोक्त बातको फिर खोल कर कहते हैं कि ज्ञानी परमार्थी पुरुष ऐसा ध्यान किया करे कि मैं अकेला हूं मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी अन्य का हूं उसको मैं नहीं देखता कि जिसका हूं और उसको भी मैं नहीं देखता कि जो मेरा हो किन्तु वहती हुई नदीमें तरंगोंकी हिलोरोंसे जैसे कई लकड़ी आमिलें वैसे ही माता पिता स्त्री पुत्रादिका संयोग होकर वियोग होजाता है ॥८४॥ वियोग होजाने पर उन संवन्धियोंसे आप का कुछ काम नहीं रह जाता और न उनका आपसे कुछ काम वा मतलब रहता है। वे आपके सम्वंधी और आप सब लोग अपने २ कर्मानुसार अपनी २ योनि में चले गये और चले जाओगे। इससे मोह जाल में मतफंसो ॥८६॥ यह भी अभिमान मत करो कि सहस्रों लाखों मनुष्य हमारे रक्षक वा साथी हैं क्योंकि संसार में धनादि के लोभसे धनियोंके प्रायः सभी सगे बन जाते और दरिद्री लोगोंके खास सबन्धी भी उनको जीवित में ही त्याग देते हैं इससे यही सिद्ध हुआ कि "स्वारथ लागि करैं सब प्रीती,, ॥८७॥ स्त्री पुत्रादि के पालनार्थ वा उनके संतोषार्थ मनुष्य अशुभ कर्मों द्वारा धनादि पैदा करता है उसीसे इस जन्म और उस जन्म और जन्मान्तर में क्लेशोंको प्राप्त होता है ॥८८॥ अपने कर्म से ही मनुष्य अपने मरने के समय ऐसे अन्धकारमें मग्न होता है जिससेयह सभी जीवलोक संसार नष्ट हुआ दीखता है। इस लिये व्यास जी कहते हैं कि हे पुत्र शुकदेव उस सबकाम को करो कि जो उपदेश हमने किया है ॥८९॥

तदेतत्संप्रदृश्यैव कर्मभूमिंप्रपश्यता ।
शुभान्याचरितव्यानि परलोकमभीप्सता ॥९०॥
मासर्त्तुसंज्ञापरिवर्त्तकेन सूर्याग्निनारात्रिदिवेन्धनेन ।
स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेण भूतानिकालःपचतिप्रसह्य॥९१॥
धनेनकिंयन्नददातिनाश्नुते बलेनकिंयेनरिपुंनबाधते ।
श्रुतेनकिंयेननधर्ममाचरेत् किमात्मनायोनजितेन्द्रियोवशी॥९२

भीष्म०—इदंद्वैपायनवचो हितमुक्तंनिशम्यतु ।
शुकोगतःपरित्यज्य पितरंमोक्षदैशिकम् ॥ ९३ ॥
इति मोक्षधर्मे ३३१ अ० व्यासगीता समाप्ता ॥

मानुष जन्म रूप कर्म भूमिको देखते हुए मनुष्यको उचित है कि वह ऐसा शोच विचार अवश्य करे कि मैं इस मानुष जन्म रूप स्वर्ग की सीढी पर चढ़के भी फिर नीचे गिरा तो फिर मेरा पता न लगेगा इससे परलोकमें स्वर्ग सुख चाहता हुआ शुभ पुण्य धर्म जप तप पाठ पूजन भक्ति उपासना करने में मन को लगावे ॥ ९० ॥ मनुष्य की अपने किये कर्म में जो निष्ठा नाम आसक्ति है उसी से होने वाले फल के साक्षी मास तथा ऋतुरूप संज्ञाके प्रवर्त्तक ऐसे सूर्य रूप अग्नि से रात्रि और दिन को ईंधन बनाकर कालरूप रसोइया भोजन रूपसे बलात्कार प्राणियोंको पका रहा है और सब पका २ कर काल खाता जाता है ॥९१॥ उस धन का होना व्यर्थ है जो न दान पुण्य में दिया जाय और न भोगा जाय वह बल व्यर्थ है जिससे शत्रुको न दबा सके वह शास्त्रका पढ़ना व्यर्थ है जिससे धर्म न करे और उस शरीरका होना दुःखदायी हानि कारक है कि जो जितेन्द्रिय और आत्माके वशीभूत न हो ॥९२॥ अब भीष्म जी कहते हैं कि शुकदेव जी व्यासजी के ऐसे पूर्वोक्त हितोपदेश को सुनकर और मोक्षमार्गोपदेशक अपने पिता व्यासजी को त्यागके विरक्त होकर वन को चले गये ॥ ९३ ॥ यह शुकदेव को किया उपदेश रूप व्यासगीता समाप्त हुआ ॥

अथ—नारदगीता

भी०—देवर्षिन्तु शुकोदृष्ट्वा नारदंसमुपस्थितम् ।
अर्घ्यपूर्वेणविधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत् ॥१॥
नारदोऽथाब्रवीत्प्रीतो ब्रूहिधर्मभृतांवर ।
केनत्वांश्रेयसातात योजयामीतिहृष्टवत् ॥२॥
नारदस्यवचःश्रुत्वा शुकःप्रोवाचभारत ।
अस्मिंल्लोकेहितंयत्स्यात्तेनमांयोक्तुमर्हसि ॥३॥
नारद—तत्त्वंजिज्ञासतांपूर्व—मृषीणांभावितात्मनाम् ।
सनत्कुमारोभगवा—निदंवचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥
नास्तिविद्यासमंचक्षु—र्नास्तिसत्यसमंतपः ।
नास्तिरागसमंदुःखं नास्ति त्यागसमंसुखम् ॥५॥

भीष्म जी राजा युधिष्ठिर से कहते हैं कि जब शुकदेवजी वनमें तप करने लगे थे इसी बीच दैवयोग से वहां नारद जी आ गये। तब उपस्थित हुए देवर्षि नारद जी को शुकदेव जी ने देखकर वेदोक्त अर्घ्यपूर्वक विधि से पूजन किया ॥ १ ॥ तब प्रसन्न होकर हर्ष के साथ नारद जी बोले कि हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ प्यारे शुकदेव ! कहिये कि तुम को हम किस कल्याण से युक्त करें ॥ २ ॥ नारद जी का यह वचन सुनकर हे राजन् युधिष्ठिर ! शुकदेव बोले कि इस लोक में जो बात मनुष्य के लिये सर्वोपरि अत्यन्त हितकारी हो उसी से मुझ को युक्त कीजिये ॥ ३ ॥ तब नारद जी बोले कि एक बार ऋषि महर्षि ब्रह्मर्षि राजर्षियों की एक बड़ी सभा में यह प्रश्न उठा था कि इस संसार में सब से उत्तम तत्त्व क्या है ? तब इस के उत्तर में उस समय के सभापति सर्वमान्य भगवान् सनत्कुमार जी ने यह कहा था कि ॥ ४ ॥ विद्या के तुल्य संसार में कोई वस्तु नहीं है सूर्य का प्रकाश भी विद्या चक्षु से कम है, सत्याचरण के समान कोई तप नहीं है, राग के समान संसार में अन्य कोई दुःख का हेतु नहीं है, राग ही सर्वोपरि दुःखदायी है और त्याग नाम वैराग्य के तुल्य कोई सुख देने वाला नहीं है त्याग ही सर्वोपरि सुख का हेतु है ॥ ५ ॥

निवृत्तिःकर्मणःपापात् सततंपुण्यशीलता ।
सद्वृत्तिःसमुदाचारः श्रेयएतदनुत्तमम् ॥ ६ ॥
मानुष्यमसुखंप्राप्य यःसज्जतिसमुह्यति ।
नालंसदुःखमोक्षाय संयोगोदुःखलक्षणम् ॥ ७ ॥
सक्तस्यबुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धिनी ।
मोहजालावृतोदुःख-मिहचामुत्रसोऽश्नुते ॥ ८ ॥
सर्वोपायात्तुकामस्य क्रोधस्यचविनिग्रहः ।
कार्यःश्रेयोऽर्थिनातौहि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ ॥ ९ ॥
नित्यंक्रोधात्तपोरक्षेत् श्रियंरक्षेच्चमत्सरात् ।
विद्यांमानावमानाभ्या-मात्मानंतुप्रमादतः ॥१०॥

हिंसा असत्यभाषण छल कपट चोरी व्यभिचारादि पापकर्म से बच सकना, निरन्तर पुण्य धर्म करने में चित्त लगाना, धर्मानुकूल जीविका और सदाचार धर्म का पालन करना यह अति उत्तम कल्याण का मार्ग है ॥ ६ ॥ मनुष्य जन्मके काम क्रोध लोभादि दुःख हेतु विषयों को प्राप्त होकर जो प्राणी आसक्त होता है वह मोह जालमें फंस जाता है वह दुःखों को छुटाने में समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि संयोग ही दुःख का लक्षण है [योग सू० पा० २ । १७ में जड़ चेतन का संयोग ही दुःख का कारण बताया है] ॥ ७ ॥ स्त्री पुत्र धनादि में जो आसक्त है उसकी बुद्धि मोह जाल को बढ़ाती हुई धर्मपथ से डिग जाती है । मोहजाल से ढंपा हुआ वह प्राणी इस लोक परलोक में दुःख ही भोगता है ॥८॥ अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को सर्वात्मा से तथा सर्वोपाय से प्रथम काम और क्रोध के महाप्रबल वेग को रोकना चाहिये क्योंकि ये काम क्रोध ही सर्वोपरि कल्याण मार्ग में लुटेरे वा डाकू हैं इन दो वा एक काम के वशीभूत होते ही अन्य सभी शत्रु नष्ट हो जाते हैं । योगाभ्यास और वैराग्य तथा ईश्वर प्रणिधान के द्वारा काम क्रोध की वासनाओं के नाशका उपाय करना सर्वोत्तम है ॥ ९ ॥ तप का नाशक क्रोध है इस कारण क्रोध से तप को बचावे, मत्सरता के त्याग से लक्ष्मी की रक्षाकरे, मानापमान के त्याग से विद्या की रक्षा और वृद्धि करे तथा भूल प्रमादसे शरीर को बचावे । अर्थात् मत्सरतादि लक्ष्मी शोभादि के नाशक हैं ॥१०॥

आनृशंस्यंपरोधर्मः क्षमाचपरमंबलम् ।
आत्मज्ञानंपरंज्ञानं नसत्याद्विद्यतेपरम् ॥ ११ ॥
सत्यस्यवचनंश्रेयः सत्यादपिहितंवदेत् ।
यद्भूतहितमत्यन्त-मेतत्सत्यंमतंमम ॥ १२ ॥
सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः ।
येनसर्वंपरित्यक्तं सविद्वान्सचपण्डितः ॥ १३ ॥
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान्यश्चरत्यात्मवशैरिह ।
असज्जमानःशान्तात्मा निर्विकारःसमाहितः ॥१४॥
आत्मभूतैरतद्भूतः सहचैवविनैवच ।
सविमुक्तःपरंश्रेयो नचिरेणाधितिष्ठति ॥ १५ ॥

मनुष्योंको दुःख न देनेकी चेष्टा ही मुख्य नाम बड़ा धर्म है इसीसे मनुष्यादि प्राणियोंको दुःख देनेकी चेष्टा वालेका अन्य धर्म करना व्यर्थसा है। क्षमा धर्म ही बड़ा बल है, आत्माको जीतलेना ही सर्वोत्तम ज्ञान है परन्तु सत्यसे परे अन्य कुछ भी उत्तम इससे नहीं है कि सत्यस्वरूप ही परमात्मा है ॥ ११ ॥ नारदजी कहते हैं कि सत्यवचन बोलना कल्याणकारी है परन्तु जिसमें प्राणियोंका वास्तविक हित हो वह सत्यसे भी उत्तम होता है इस कारण मेरी [नारदकी] सम्मति वा राय है कि जो प्राणियों का अत्यन्त हितकारी वचन है वही सत्य है। जो सत्य दीखने पर भी हितकारी नहीं वही सत्याभास असत्य है ॥ १२ ॥ परमार्थी मनुष्य सब कामोंके आरम्भ को त्यागे सब आशाओं को छोड़े और संसारी भोगोंका अर्जन रक्षण भी न करे वास्तवमें जिसने सब ही त्याग दिया वही विद्वान् और वही पण्डित है उसकी अपेक्षा सभी मूर्ख हैं ॥ १३ ॥ जो मनुष्य अपने वशमें किये आत्मस्वरूप इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, विषयोंका सेवन करता है और सावधान निर्विकार शान्तस्वरूप रहता हुआ विषयोंमें आसक्त नहीं होता अर्थात् रूपवती युवतीको देखके बालवत् जिसका मन विकृत नहीं होता और विषयों के समक्ष होने न होनेमें जिसका चित्त एकसा ही रहता है वह संसारके बन्धनोंसे छूटकर बहुत ही थोड़े कालमें परम कल्याणको प्राप्त हो जाता है ॥१५॥

अदर्शनमसंस्पर्शं तथाऽसंभाषणंसदा ।
यस्यभूतैःसहमुने ! सश्रेयोविन्दतेपरम् ॥ १६ ॥

नहिंस्यात्सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदंजन्मसमासाद्य वैरंकुर्वीतकेनचित् ॥ १७ ॥
आकिञ्चन्यंसुसन्तोषं निराशीस्त्वमचापलम् ।
एतदाहुःपरंश्रेय आत्मज्ञस्यजितात्मनः ॥ १८ ॥
परिग्रहंपरित्यज्य भवतात ! जितेन्द्रियः ।
अशोकंस्थानमातिष्ठ इहचामुत्रचाभयम् ॥ १९ ॥
निरामिषानशोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः ।
परित्यज्यामिषंसौम्य दुःखतापाद्विमोक्ष्यसे ॥ २० ॥

नारदजी कहते हैं कि हे मुनि शुकदेव ! उक्त रीतिसे भिन्न परमार्थीके के लिये एक मार्ग यह भी है कि जिसका देखना स्पर्श करना तथा संभाषण करना रूप व्यवहार अन्य मनुष्यादिके साथ कुछ भी न रहै वह भी शीघ्र ही परम कल्याणका भागी हो जाता है ॥ १६ ॥ किसी प्राणीको दुःख देनेकी चेष्टा न करे सभीसे मित्रभाव रक्खे पापियों से उदासीन वृत्ति रक्खे और मानुष जन्म पाकर किसीसे भी वैर न करे ॥ १७ ॥ परमार्थी आत्मज्ञानी जितेन्द्रिय पुरुषको धनका त्यागी, सम्यक् संतोषी तथा आशा और चपलताका पूर्णप-रित्यागी होना चाहिये ॥ १८ ॥ हे तात ! बेटा ! शुकदेव सर्वोपरि कल्याण चाहते हो तो स्वजन रक्षणको त्यागकर जितेन्द्रिय बनो और जन्म जन्मान्त-रोंमें निर्भयता दिखाने वाले शोक नाशक ज्ञानमार्गपर आरूढ़ होजाओ ॥१९॥ अहंकार ममकारकी सूक्ष्मवासनाओं सहित जो भोगोंका त्याग करदेते हैं वे फिर किसीका शोच नहीं करते इससे मनुष्यको चाहिये कि अपने भोगोंको त्याग देवे । नारद जी कहते हैं कि हे सौम्य शुकदेव ! तुम भोगोंका त्याग करके ही दुःख और तापसे मुक्त होजाओगे अर्थात् जसे एकात्मदर्शी पुरुषके शोक और मोह निवृत्त हो जाते हैं उसी प्रकार पूर्ण वैराग्य होने पर भी शोक मोहकी निवृत्ति हो जाती यही उत्तम सुख है ॥ २० ॥

तपोनित्येनदान्तेन मुनिनासंयतात्मना ।
अजितंजेतुकामेन भावयंसङ्गेष्वसङ्गिना ॥ २१ ॥
गुणसंगेष्वनासक्त एकचर्यारतःसदा ।
ब्राह्मणोनचिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम् ॥ २२ ॥

द्वन्द्वारामेषुभूतेषु यएकोरमतेमुनिः।
विद्धिप्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तोनशोचति ॥ २३ ॥
शुभैर्लभतिदेवत्वं व्यामिश्रैर्जन्ममानुषम्।
अशुभैश्चाप्यधोजन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥ २४ ॥
तत्रमृत्युजरादुःखैः सततंसमभिद्रुतः।
संसारेपच्यतेजन्तु–स्तत्कथंनावबुध्यसे ॥ २५ ॥

परमार्थी मनुष्यको अपने शरीर वा इन्द्रियोंको वशमें करके मौन रहते नित्य तप करते और मनका दमन करते हुए, जो अंश न जीत पाया हो उसको जीतनेकी इच्छा और उद्योग करते हुए किसीके अङ्गोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥ ज्ञानी महात्मा आदि कहानेमें हर्ष न मानके आसक्त न हो, एक परमात्म विचारमें सदा तत्पर रहता हुआ ब्राह्मण बहुत शीघ्र ही अत्युत्तम सुखको पाता है ॥ २२॥ सुख दुःख हानि लाभादि द्वन्द्वोंमें रमनेवाले प्राणियोंमें जो मुनि हर्ष शोक रहित हुआ विचरता है उसको तुम ज्ञानसे तृप्त हुआ जानो और ज्ञान तृप्तका लक्षण यही है कि वह शोक नहीं करता ॥ २३॥ शुभ पुण्य कर्मोंकी अधिकतासे देवयोनि प्राप्त होती है पाप पुण्यकी समकोटियोंमें मानुष योनिमें जन्म लेता और अशुभ पाप कर्मोंके बढ़जानेसे पश्वादि वा नारकी योनियोंमें जन्म होता है। इस प्रकार मृत्यु और वृद्धावस्था वा रोगादि जन्य सैकड़ों उपद्रवोंसे घवराया प्राणी संसार रूप बड़ी कड़ाहीमें डालकर रांधा जारहा है ऐसी दशाको देखते हुए हे शुकदेव! तुम सचेत क्यों नहीं होते? सहस्रों दुःख इधर उधर से जब घेरते चले आते हैं तब भी तुम भूलमें क्यों पड़े हो ॥ २४ ॥ २५ ॥

अहितेहितसंज्ञस्त्व–मध्रुवेध्रुवसंज्ञकः।
अनर्थेचार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थंनावबुध्यसे ॥ २६ ॥
संवेष्ट्यमानंबहुभि–र्मोहात्तन्तुभिरात्मजैः।
कोषकारइवात्मानं वेष्टयन्नावबुध्यसे ॥ २७ ॥
अलंपरिग्रहेणेह दोषवान्हिपरिग्रहः।
कृमिर्हिकोषकारस्तु वध्यतेस्वपरिग्रहात् ॥ २८ ॥
पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताःसीदन्तिजन्तवः।

सरःपङ्कार्णवमग्ना जीर्णावनगजाइव ॥ २८ ॥
महाजालसमाकृष्टान् स्थलेमत्स्यानिवोद्धृतान् ॥
स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्यजन्तून्सुदुःखितान् ॥ ३० ॥

हे मनुष्य! तू अहितको हित मानता, अनित्य संसारी विषयोंको स्थायी समझता और अनर्थकारी धनादिको अर्थ सिद्ध मानता है सो तू सचेत क्यों नहीं होता! ऐसी भूलमें क्यों पड़ा है ॥ २६ ॥ जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही किये कामसे आप ही रेशमके गट्टेमें बन्द होके मर जाता है वैसे मनुष्य अपने ही कामोंसे अपनेको बन्धनमें डालता हुआ भी सचेत क्यों नहीं होता ॥ २७ ॥ संसारी भोगोंके संग्रह और रक्षा करनेमें अनेक दोष हैं इस लिये इस अर्जन रक्षण रूप परिग्रहसे परमार्थी मनुष्य को अवश्य हाथ खींचलेना चाहिये। रेशमका कीड़ा अपने ही परिग्रहसे माराजाता है ॥ २८ ॥ जैसे तालावके गहरे दलदलमें फंसजाने पर वनके बुड्ढे हाथी घवरा २ कर वहीं मरजाते हैं उस कीचड़से निकल नहीं पाते वैसेही स्त्री पुत्र कुटुम्बादिके स्नेह रूप दलदलमें फंसे हुए मनुष्य भी सहस्रों दुःख भोगते हुए घवरा २ के वहीं मरजाते हैं किन्तु रागरूप कीचड़से बाहर निकलके ज्ञान वैराग्य के शुद्धमार्गमें नहीं आपाते ॥ २९ ॥ जैसे बड़े जालमें फंसाके जलाशयसे बाहर स्थलमें खींचे जानेपर मछलियां मरती हुई तड़फड़ाती विलविलाती हैं वैसे ही हे शुकदेव! स्नेह रूप जालमें फंसे इष्ट वियोगादिके दुःखोंसे तड़फड़ाते विलविलाते हुए मनुष्योंको तुम देखो और देखकर स्नेह वा रागके जाल में तुम मत फंसो ॥

कुटुम्बंपुत्रदारंश्च शरीरं सञ्चयाश्रये।
पारक्यमध्रुवंसर्वं किंस्वंसुकृतदुष्कृतम् ॥३१॥
यदासर्वान्परित्यज्य गन्तव्यमवशेनते।
अनर्थेकिंप्रसक्तस्त्वं स्वमर्थंनानुतिष्ठसि ॥३२॥
अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम्।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेकोगमिष्यसि ॥३३॥
नहित्वांप्रस्थितंकश्चित्पृष्ठतोऽनुगमिष्यति ॥
सुकृतंदुष्कृतंचत्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥३४॥

विद्याकर्मचशौचंच ज्ञानंचबहुविस्तरम्।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थश्चविमुच्यते ॥३५॥

स्त्री पुत्र कुटुम्बी अपना शरीर और संचित किया धनादि सामान यह सब अपना नहीं किन्तु पराया है अपना वही है जो अपने संग जाने वाला सुकृत दुष्कृत रूप धर्माधर्म है। स्त्री पुत्रादि अपने तभी हो सकते थे कि जो अपने संग जाते ॥३१॥ जब कि सब स्त्री पुत्रादि को छोड़के वेवश तुझको जाने पड़ेगा तब हे मनुष्य! तू अनर्थ कारक कामादि में क्यों फंसा है? इष्ट सुखके हेतु अपने परमार्थ को क्यों नहीं सम्हालता ॥३२॥ जब तू शरीर छोड़के मरने पर जिस मार्गमें आवेगा उसमें विश्राम के लिये कोई पड़ावता सराय नहीं है उसमार्गमें कोई आलम्ब नाम सहारा भी नहीं है, बीचमें खाने पीने को अन्न जल भी नहीं मिलता है, इस मार्गकी कोई दिशा भी नियत नहींहैं कि किधर जाना है, किन्तु केवल भयंकर अन्धकाराच्छन्न मार्ग हैं, हे मनुष्य ऐसे भयंकर मार्ग में मरण समय तू अकेला कैसे जायगा?॥३३॥ शरीर छोड़के यहां से कूंच करते समय तेरे पीछे २ कोई भी स्त्री पुत्रादि नहीं आवेगा किन्तु जाते हुए तेरे पीछे केवल सुकृत दुष्कृतनाम पाप पुण्य जावेंगे ॥३४॥ विद्या कर्म धर्म शौच और बहुत विस्तृतज्ञान का व्याख्यान इन सब को धन कमाने के उपयोग में प्रायः लोग लगाते हैं किन्तु विद्यादि से अपना परमार्थ करना लोग नहीं जानते और यदि कोई विद्यादिसे परमार्थ करता है तो वही कृतार्थ होकर संसारके सब दुःख बन्धनोंसे मुक्त होजाता है॥३५॥

निवन्धनीरज्जुरेषा याग्रामेवसतोरतिः।
छित्त्वैतांसुकृतोयान्ति नैनांछिन्दन्तिदुष्कृतः ॥३६॥
रूपकूलांमनःस्रोतां स्पर्शद्वीपांरसावहाम् ॥३७॥
क्षमारित्रांसत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम्।
त्यागवाताध्वगांशीघ्रां नौतार्यांतांनदींतरेत् ॥३८॥
त्यजधर्ममधर्मंच तथासत्यानृतेत्यज।
उभेसत्यानृतेत्यक्त्वा येनत्यजसितंत्यज ॥३९॥
त्यजधर्ममसंकल्पा-दधर्मंचाप्यलिप्सया।
उभेसत्यानृतेबुद्ध्या बुद्धिंपरमनिश्चयात् ॥ ४० ॥

अधिक जन समुदायमें जो वसने की रुचि है यही बांधने वाली रस्सी है, पुण्यात्मा लोग इस रस्सीको तोड़के एकान्तमें तप करते हैं परन्तु पापी लोग दिन २ इसी रस्सीमें दृढ़ता से बंधते जाते हैं ॥ ३६ ॥ ऐसी नदी को तर के पार जावे कि जिस में रूप ही तट है, मन ही जिसका प्रवाह वेग है, स्पर्श ही जिसमें द्वीप है रस विषय तृणवत् जिसमें बहा जाता है गन्ध ही जिसमें कीचड़ शब्द ही जिसमें जल है, स्वर्गके मार्गमें जो कठिनाई से बहती है, क्षमा ही जिसमें कर्णधार वा पतवार है, धर्म पर स्थिर होना ही जिसकी किनारे पर ठहराने वाली रस्सी है, त्याग रूप वायुके मार्गमें चलने वाली ऐसी सत्य स्वरूप नौका से पार होने योग्य है ॥ ३७ । ३८ ॥ कामना पूर्वक होने वाले धर्म अधर्म तथा सत्य मिथ्या दोनों का त्याग करके जिससे तुम को त्यागा है उस को तुम भी त्यागो अर्थात् स्वर्गादि उत्तम सुख भोग की कामनासे किया धर्म भी बन्धन का हेतु है इससे उसका त्याग कहा, सत्य मिथ्या दोनों का त्यागना मौन होनेके लिये कहा है। विषय वा धनादि भोग मनुष्य को त्याग देते हैं नाम जैसे २ भोग चाहता है वैसे प्राप्त नहीं होते इससे उन भोगों को त्याग देवे ॥३९॥ संकल्पके त्यागसे काम्य धर्म को छोड़ो, तृष्णाके त्याग द्वारा अधर्मको त्यागो। बुद्धि से सम्यक् निश्चय करके सत्य मिथ्या दोनों का त्याग कर मुनि होजाओ और परम निश्चय द्वारा बुद्धिको स्थिरकरो ॥४०॥

अस्थिस्थूणंस्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धंदुर्गन्धि=पूर्णंमूत्रपुरीषयोः ॥ ४१ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यंच भूतावासमिमंत्यज ॥ ४२ ॥
योजन्तुःस्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः ।
सदुःखप्रतिघातार्थं हन्तिजन्तूननेकधा ॥ ४३ ॥
ततःकर्मसमादत्ते पुनरन्यंनवंबहु ।
तप्यतेऽथपुनस्तेन भुक्त्वाऽपथ्यमिवातुरः ॥ ४४ ॥
अजस्रमेवमोहान्धो दुःखेषुसुखसञ्ज्ञितः ।
बध्यतेमथ्यतेचैव कर्मभिर्मन्थवत्सदा ॥ ४५ ॥

इस मानुषी शरीर रूप घर में हड्डियों की थूनी, नसों के बंधन, मांस और रुधिर से लेस लीप किया गया है, तथा यह शरीर रूप घर चामसे बंधा और मल मूत्र की दुर्गन्धि से ठसा ठस भरा हुआ है, बुढ़ापा और शोक से युक्त, रोगों का घर, नित्य दुःखी, मल मूत्रादि के छिद्रों से प्रत्येक समय मलिनता निकलती है और यह भूतों का निवास स्थान है इस से ऐसे अनित्य घृणित देह को त्याग ने की इच्छा कर ॥ ४१ । ४२॥ जो प्राणी अपने किये उन २ कर्मों से नित्य दुःखित है वह अपने दुःख को नष्ट करनेके लिये अनेक प्रकार से अन्य जीवों को मारता वा दुःख पहुंचाता है, उससे फिर नया बहुत पाप उसके पल्ले पड़ जाता है फिर जैसे कुपथ्य करके रोगी दुःख पाता है वैसे वह भी उस पाप कर्म से पीडित होता है ॥ ४३। ४४ बुद्धि के मोहान्धकाराच्छन्न होने से दुःखों में ही निरन्तर सुख मानता है। और उन्हीं अपने किये कर्मों से मन्थान के तुल्य सदा ही मथा जाता है इस से संसार में सब दुःख ही हैं ऐसा विचारते हुए मुमुक्षु को सबसे उदासीन होना चाहिये ॥ ४५ ॥

ततोनिबद्धःस्वांयोनिं कर्मणामुदयादिह ।
परिभ्रमतिसंसारं चक्रवद्बहुवेदनः ॥ ४६ ॥
सत्वंनिकृत्तबन्धस्तु निवृत्तश्चापिकर्मतः ।
सर्ववित्सर्वजित्सिद्धो भवभावविवर्जितः ॥ ४७ ॥
संयमेननवंबन्धं निवर्त्यतपसोबलात् ।
संप्राप्ताबहवःसिद्धि मप्यबाधांसुखोदयाम् ॥ ४८ ॥

वह प्राणी कर्म बन्धनों से बंधा हुआ और बहुत पीड़ा भोगता हुआ नये २ कर्म फलों का उदय होने से गाड़ी के पहिये के तुल्य संसार में सब ओर भ्रमण करता है उस भ्रमण में दुःख से छूटने के लिये घबराता हुआ भी प्रबल जाल में फंसे पक्षी वा मछली के समान छूट नहीं सकता ॥ ४६ ॥ नारद जी कहते हैं कि हे बेटा शुकदेव ! सो तुम बन्धनों को काट के और कर्मों से निवृत्त होकर संकल्प वा मनोरथों का वर्जन करते हुए सर्वेन्द्रियों को जीतने वाले और सर्वत्र सत् असत् के जानने वाले हो जाओ ॥ ४७ ॥ अब तक अनेक ऋषिमहर्षि धारणाध्यान समाधि रूप पारिभाषिक संयम से नवीन अ-

न्धनों की निवृत्ति करके सुख को प्राप्त कराने वाले सर्व बाधा रहित सिद्धि को तपोबल से प्राप्त होगये हैं सो हे शुकदेव ! तुम भी उसी प्रकार तपोबल से सिद्धि को प्राप्त हो जाओ ॥ ४८ ॥

अशोकंशोकनाशार्थं शास्त्रंशान्तिकरंशिवम् ।
निशम्यलभतेबुद्धिं तांलब्ध्वासुखमेधते ॥४९॥
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानिच ।
दिवसेदिवसेमूढ–माविशन्तिनपण्डितम् ॥५०॥
तस्मादनिष्टनाशार्थ-मितिहासंनिबोधमे ।
तिष्ठतेचेद्वशेबुद्धिर्लभतेशोकनाशनम् ॥५१॥
अनिष्टसंप्रयोगाच्च विप्रयोगात्प्रियस्यच ।
मनुष्यामानसैर्दुःखै–र्युज्यन्तेस्वल्पबुद्धयः ॥५२॥
द्रव्येषुसमतीतेषु येगुणास्तान्नचिन्तयेत् ॥
नतानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धैःप्रमुच्यते ॥५३॥

जिस सांख्य योग वेदान्तादि के पढ़ने विचारने से शोक नष्ट होता है ऐसे शान्तिकारक कल्याणकारी शास्त्रको शोक निवृत्तिके लिये सुन जानके उस उत्तम बुद्धि को मनुष्य प्राप्त होता है कि जिसे पाकर सुखपूर्वक आगेर उन्नतिके मार्गमें बढ़ता है ॥४९॥ हजारों शोक स्थान और सैकड़ों भयस्थान प्रतिदिन मूर्खके सामने उपस्थित हुआ करते हैं परन्तु पण्डित विद्वान्को शोक वा भय नहीं दबाते, चाहें यों कहो कि जिसे शोक भयादि न दबा सकें वही पण्डित है तथा अन्य मूर्ख हैं ॥५०॥ नारदजी कहते हैं कि हे शुकदेव ! यदि तुम्हारा मनवशमें है तो ध्यान देके हमारा उपदेश सुनो ऐसे ज्ञानोपदेश से शोक नष्ट हो जाता है ॥५१॥ निर्बुद्धि वा अल्पमति मनुष्योंका यही चिह्न है कि वे अपने पर कोई अनिष्ट विपत्ति आजाने पर वा प्रिय स्त्री पुत्रादिके वियोगमें असह्य दुःख सागरमें डूब जाते हैं ॥५२॥ जो पदार्थ नष्ट हो चुके उन के शुभ गुणों का चिन्तन न करें क्योंकि उन गुणोंका चिन्तन वा आदर करने वाले मनुष्य स्नेह वा प्रेमके बन्धनों से छूट नहीं सकता इस लिये सुख भोग से उदासीन होना ही कल्याणकारी है ॥५३॥

दोषदर्शीभवेत्तत्र यत्ररागःप्रवर्त्तते ।
अनिष्टवर्द्धितंपश्येत्तथाक्षिप्रंविरज्यते ॥५४॥
नार्थोनधर्मोनयशो योऽतीतमनुशोचति ।
अप्यभावेनयुज्येत तच्चाऽस्यननिवर्त्तते ॥५५॥
गुणैर्भूतानियुज्यन्ते वियुज्यन्तेतथैवच ।
सर्वाणिनैतदेकस्य शोकस्थानंहिविद्यते ॥५६॥
मृतंवायदिवानष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेनलभतेदुःखं द्वावनर्थौप्रपद्यते ॥५७॥
नाश्रुकुर्वन्तियेबुद्ध्या दृष्ट्वालोकेषुसन्ततिम् ।
सम्यक्प्रपश्यतःसर्वं नाश्रुकर्मोपपद्यते ॥५८॥

विरक्त ज्ञानी पुरुष की जिन २ पदार्थों में राग वासना विद्यमान हो उनमें दोष दृष्टि करे अर्थात् इस रागको ही अनिष्ट बढ़ाने वाला देखे तो शीघ्र ही चित्तमें वैराग्य आजाता है ॥५४॥ वीती हुई बातों का शोक करने में धर्म अर्थ और यशका कुछ भी लाभ नहीं है किन्तु शोकसे धर्मादिका अभाव वा नाश तो अवश्य होता है और शोक करने वालेका दुःख निवृत्त नहीं होता॥५५॥ अच्छे गुण युक्त वस्तु प्राणियोंको प्राप्त होते और उनका वियोग भी होता है यह सभीके लिये नियम है किसी एकके लिये नहीं, यह इष्ट वियोग ही दुःख शोक का कारण है ॥५६॥ जो कोई मेली प्रिय मर गया वा खो गया उसका जो शोक करता है वह एक पहिले दुःखसे द्वितीय शोक जन्य दुःखको प्राप्त होता है इससे शोक करने में दो अनर्थ होते हैं। परशोक छोड़ देने से दोनों दुःख मिटजाते हैं ॥५७॥ संसारमें इष्ट अनिष्ट सुख दुःखके सिलसिला को क्रमसे निरन्तर विचारके साथ जो देखते हैं वे प्रिय वियोग में रोते नहीं हैं सब संसार को सम्यक् देखने वाले का रोना नहीं बनता ॥५८॥

दुःखोपघातेशारीरे मानसेप्युपपस्थिते ।
यस्मिन्नशक्यतेकर्त्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ॥ ५९ ॥
भैषज्यमेतद्दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानंहिनव्येति भूयश्चापिप्रवर्धते ॥ ६० ॥

प्रज्ञयामानसंदुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं नबालैःसमतामियात् ॥ ६१ ॥
अनित्यंयौवनंरूपं जीवितंद्रव्यसंचयः ।
आरोग्यंप्रियसंवासो गृध्येत्तत्रनपण्डितः ॥
नजानपदिकंदुःख—मेकःशोचितुमर्हति ।
अशोचन्प्रतिकुर्वीत यदिपश्येदुपक्रमम् ॥ ६३ ॥

शारीरिक दुःख नष्ट होजाने पर यदि मानस दुःख आजावे और उसको हटानेका कोई उपाय न दीखे तो उसकी चिन्ता वा शोक न माने ॥ ५९ ॥ दुःखको हटानेका औषध यही है कि जो चिन्ता न करना अर्थात् दुःखको न मानना क्योंकि चिन्ता करनेसे दुःख नष्ट नहीं होता किन्तु और भी अधिक २ बढ़ता है इससे उदासीनता ही श्रेयस्करी है ॥ ६० ॥ बुद्धिके उत्तम विचारसे मानस दुःखको तथा औषधि सेवनसे शारीरिक दुःखको नष्टकरे यही समझदारोंका कर्त्तव्य है किन्तु अज्ञानियोंके तुल्य दुःखमें घबड़ावे नहीं ॥ ६१ ॥ युवावस्था, उत्तमरूप, जीवन, धनका संचय करना, नीरोगता और प्रिय वस्तुका संयोग ये सब अनित्य हैं सदा रहने वाले नहीं हैं इससे समझदार विद्वान् यौवनादिमें लिप्त वा आसक्त न होवे ॥ ६२ ॥ जो दुःख वा विपत्ति देश भर पर आई हो उसे अकेला अपने पर मानके शोक न करे किन्तु शोक न करे किन्तु शोकातुर न होता हुआ विपत्तिको हटानेका उद्योग तो करे जो देखे कि मैं इसमें कुछ भी सफलता प्राप्त कर सकता हूं तो अवश्य ही दुःख निवृत्तिका उपाय करे ॥ ६३ ॥

सुखाद्बहुतरंदुःखं जीवितेनात्रसंशयः ।
स्निग्धत्वंचेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ ६४ ॥
परित्यजतियोदुःखं सुखंचाप्युभयंनरः ।
अभ्येतिब्रह्मसोऽत्यन्तं नतंशोचन्तिपण्डिताः ॥ ६५ ॥
त्यज्यन्तेदुःखमर्थाहि पालनेनचतेसुखाः ।
दुःखेनचाधिगम्यन्ते नाशमेषांनचिन्तयेत् ॥ ६६ ॥
अन्यामन्यांधनावस्थां प्राप्यवैशेषिकींनराः ।

अतृप्रायान्तिविध्वंसं संतोषंयान्तिपण्डिताः ॥ ६७ ॥
सर्वेक्षयान्तानिचयाः पतनान्ताःसमुच्छ्रयाः ।
संयोगाविप्रयोगान्ता मरणान्तंहिजीवितम् ॥६८॥

विद्वान् विचारशीलोंने सम्यक् आन्दोलन करके यह निर्णय कर लिया है कि मनुष्यके जीवन में सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रेम होनेसे मोह वश अप्रिय मृत्यु आकर घेर लेता है ॥ ६४ ॥ जो मनुष्य संसारी सुख दुःख दोनोंको छोड़ता है अर्थात् हर्ष शोक नहीं मानता वह साक्षात् ब्रह्म होजाता है विद्वान् लोग उसे शोक सागरसे पार हुआ कहते हैं ॥ ६५ ॥ धनादि ऐश्वर्य त्यागनेमें बहुत दुःख होता और धनकी रक्षा करनेमें भी सुख नहीं है और दुःखसे ही धन प्राप्त होता है इस लिये धनका नाश होनेपर चिन्ता न करे। क्योंकि जो सब कालमें दुःखका हेतु है उसके नाशमें तज्जन्य दुःखका भी नाश जानो॥ ६६ ॥ धन प्राप्तिकी भिन्न २ न्यूनाधिक खास २ अवस्थाको प्राप्त होकर साधारण मनुष्य तृप्त न होते हुए अन्तमें नष्ट हो जाते हैं परन्तु पण्डित लोग संतोष कर लेते हैं ॥ ६७ ॥ सभी संचयोंका अन्तमें नाश होता, सभी उन्नतियां अन्तमें अवनत होतीं, सभी संयोगोंका अन्तमें वियोग होता और सभी जीवन अन्तमें मरणको प्राप्त होजाता है इस लिये संचय उन्नति संयोग और जीवनको सुखका हेतु नहीं मानना चाहिये ॥ ६८ ॥

अन्तोनास्तिपिपासायास्तुष्टिस्तुपरमंसुखम् ।
तस्मात्सन्तोषमेवेह धनंपश्यन्तिपण्डिताः ॥ ६९ ॥
निमेषमात्रमपिहि वियोगच्छन्नतिष्ठति ।
स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यंकिमनुचिन्तयेत् ॥ ७० ॥
भूतेषुभावंसंचिन्त्य येबुद्ध्वामनसःपरम् ।
नशोचन्तिगताध्वानः पश्यन्तःपरमाङ्गतिम् ॥७१॥
संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रःपशुमिवासाद्य मृत्युरादायगच्छति ॥ ७२ ॥
तथाप्युपायंसंपश्येद् दुःखस्यपरिमोक्षणम् ।
अशोचन्नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनीभवेत् ॥ ७३ ॥

ज्ञानियों ने ठीक जान लिया है कि तृष्णा का अन्त नहीं है इसी कारण संतोष में ही बड़ा सुख है इसी कारण विद्वान् लोग संतोष को ही बड़ा धन जानते मानते हैं ॥ ६९ ॥ एक क्षण भर भी आयु का घटना बन्द नहीं होता ऐसी दशा में अपने शरीरों के अनित्य होने पर ज्ञानी को यह शोचना चाहिये कि नित्य वस्तु क्या है ? नित्य वस्तुको जान लेना ही ज्ञान है ॥ ७० ॥ प्राणियों में मुख्य सत्ता का चिन्तन करके जो लोग मनसे परे चेतनात्मा को जानते हैं वे परमपद को देखते हुए संसार मार्ग से पार हुए शोक नहीं करते अर्थात् ज्ञान होते ही शोक मोह नष्ट हो जाते हैं ॥ ७१ ॥ तृप्त न होकर कामनाओं का संचय करते हुए ही मनुष्य को मृत्यु ऐसे उठा ले जाता है कि जैसे वाघ पशु को उठा लेजावे ॥ ७२ ॥ यद्यपि मृत्यु रूप बाघ मुख बाये खड़ा है तो भी दुःख से बचने वा छूटने का उपाय ज्ञान दृष्टि से देखे। शोक को त्याग के परमार्थ का आरम्भ करे और चित्त से विषयों की आसक्ति को छोड़ता हुआ व्यसनों का त्याग करे। अर्थात् परमार्थ तत्त्वज्ञान में पहुंचते ही पहाड़ों के तुल्य बड़े २ दुःख भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

शब्देस्पर्शेचरूपेच गन्धेषुचरसेषुच ।
नोपभोगात्परंकिञ्चिद्धनिनोवाऽधनस्यवा ॥ ७४ ॥
प्राक्संप्रयोगाद्भूतानां नास्तिदुःखंपरायणम् ।
विप्रयोगात्तुसर्वस्य नशोचेत्प्रकृतिस्थितः ॥ ७५ ॥
धृत्याशिश्नोदरंरक्षेत्पाणिपादंचचक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रेचमनसा मनोवाचंचविद्यया ॥ ७६ ॥
प्रणयंप्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषुच ।
विचरेदसमुन्नद्धः ससुखीसचपण्डितः ॥ ७७ ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षोनिरामिषः ।
आत्मनैवसहायेन यश्चरेत्ससुखीभवेत् ॥ ७८ ॥

शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इन पांचो विषयों में धनी वा निर्धन दोनों ही को भोगने से भिन्न अन्य कुछ लाभ नहीं है ॥ ७४ ॥ जिस वस्तु के नाश में महादुःख होता है उसके प्राप्त होने से पहिले कुछ भी दुःख वा सुख नहीं होता इस कारण प्राप्ति से पहिले की दशा को शोचता हुआ शोक न

करे ॥ ७५ ॥ उपस्थेन्द्रिय और उदर की रक्षा रखने के लिये धैर्य से काम लेवे अर्थात् अनुचित काम और अभोज्य से बचने में धीरज रक्खे आंखों से देखता हुआ हाथ पांव की रक्षा करे मानस विचार से आंख कान की रक्षा करे और विद्या के द्वारा मन और वाणी को अनुचित से बचावे अर्थात् मन वाणी को विद्याऽभ्यास में लगावे ॥ ७६ ॥ प्रशस्त और निन्दित दोनों से आसक्ति को हटाकर जो पुरुष शान्ति शील उदासीन भावसे विचरे वही सुखी और वही पण्डित है ॥ ७७ ॥ जो अपने अध्यात्म नाम भीतरी विचार में स्थिर रहता हुआ अर्थात् बाहरी अनुकूल प्रतिकूल विषयों में हर्ष शोक कुछ न मानता हुआ केवल परमात्मा की सहायता से ही विचरे वही सुखी जानो ॥ ७८ ॥

सुखदुःखविपर्यासो यदासमुपपद्यते ।
नैनंप्रज्ञासुनीतंवा त्रायतेनापिपौरुषम् ॥७९॥
स्वभावाद्यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान्नावसीदति ।
जरामरणरोगेभ्यः प्रियामात्मानमुद्धरेत् ॥८०॥
रुजन्तिहिशरीराणि रोगाःशारीरमानसाः ।
सायकाइवतीक्ष्णाग्राः प्रयुक्तादृढधन्विभिः ॥८१॥
व्यथितस्यविधित्साभिस्ताम्यतोजीवितैषिणः ।
अवशस्यविनाशाय शरीरमपकृष्यते ॥८२॥
स्रवन्तिननिवर्त्तन्ते स्रोतांसिसरितामिव ।
आयुरादायमर्त्त्यानां रात्र्यहानिपुनःपुनः ॥८३॥

जब सुखके समय विपत्ति रूप दुःख आ जाता है अर्थात् सुखके बदले दुःख आता है तब नीति वा बुद्धिमानी और पुरुषार्थ इनमें से कोई भी दुःख से नहीं बचाता ॥७९॥ रोगादि रूप दुःख आने से पहिले स्वभाव से ही प्रतिकूलात्मक दुःख निवृत्तिके लिये यत्न करता रहे सदा यत्न करने वाला दुःख नहीं पाता और मोक्षार्थ यत्न करता हुआ, जरावस्था, मरण और रोगादि के चक्करसे अपने प्रिय आत्माको बचावे ॥८०॥ जैसे प्रबल धनुष धारीने छोड़े पने बाण शरीरोंमें विंधकर पीड़ित करते हैं वैसे ही शारीर और मानस

रोग प्राणियोंके शरीरों को पीडित करते हैं ॥८१॥ नये २ कामोंकी इच्छाओं से पीडित ग्लानि युक्ति जीवन चाहता हुआ वेवश प्राणीके विनाशके लिये शरीर खेंचा जाता है अर्थात् प्राणीके अधोगतिके अर्थ शरीर तंग किया जाता है ॥८२॥ जैसे नदियोंके जो प्रवाह तृणादिके सहित आगे २ वहते चले जाते हैं वे फिर पीछे लौट कर नहीं आते वैसे ही आयुको लेकर दिन रात रूप कालके प्रवाह जो चले जा रहे हैं वे फिर लौट कर नहीं आते ॥८३॥

व्यत्ययोह्ययमत्यन्तं पक्षयोःशुक्लकृष्णयोः ।
जातान्मर्त्याञ्जरयति निमेषन्नावतिष्ठते ॥८४॥
सुखदुःखानिभूताना—मजरोजरयत्यसौ ।
आदित्योह्यस्तमभ्येति पुनःपुनरुदेतिच ॥८५॥
अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान् ।
इष्टानिष्टान्मनुष्याणा—मस्तंगच्छन्तिरात्रयः ॥८६॥
योयमिच्छेद्यथाकामं कामानांतदवाप्नुयात् ।
यदिस्यान्नपराधीनं पुरुषस्यक्रियाफलम् ॥८७॥
संयताश्चहिदक्षाश्च मतिमन्तश्चमानवाः ।
दृश्यन्तेनिष्फलाःसन्तः प्रहीणाःसर्वकर्मभिः ॥८८॥

शुक्लके वाद कृष्णपक्ष और कृष्णके वाद शुक्लपक्ष पारापारीसे आयाजाया करते हैं और वह आना उत्पन्न हुए मनुष्योंकी आयुको प्रतिक्षण घटाता हुआ एक क्षण भर भी नहीं ठहरता ॥८४॥ यह वार २ सूर्यके उदय अस्तसे होने वाला दिनरात आदि कालका प्रवाह स्वयं अजर अमर रहता हुआ प्राणियोंके सुख दुःखोंको जीर्ण करता अर्थात् सुखको नष्ट करके दुःख को लाता और दुःखको नष्ट कर फिर सुखको लाता है ॥८५॥ जिन कामोंकी शंका भी नहीं है कि ऐसे काम होंगे तथा जिनको पहिले कभी नहीं देखा ऐसे मनुष्य के इष्ट अनिष्ट भावों नाम पदार्थों को साथ लेकर दिन रात चले जा रहे हैं। कल जो २ मनुष्यादि वा धनादि मौजूद थे वे आज न रहे कल का दिन उनको साथ ले गया ॥८६॥ यदि मनुष्यके कर्मोंका फल ईश्वर वा दैवके आधीन न होता तो जिसकी जो इच्छा होती वह अपनी उस कामनाको पूरी कर लेता ॥८७॥ संयमसे रहने वाले चतुर बुद्धिमान् मनुष्यभी सबकर्मों से हीन निष्फल अर्थात् दुःखी और दरिद्र दीखते हैं ॥८८॥

अपरेवालिशाःसन्तो निर्गुणाःपुरुषाधमाः ।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्तेसर्वकामिनः ॥ ८९ ॥
भूतानामपरःकश्चिद्धिंसायांसततोत्थितः ।
वञ्चनायांचलोकस्य स्वसुखेष्वेवजीर्यते ॥ ९० ॥
अचेष्टमानसासीनं श्रीःकश्चिदुपतिष्ठते ।
कश्चित्कर्मानुसृत्यान्यो नाप्राप्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥
केषांचित्पुत्रकामाना–मनुसन्तानमिच्छताम् ।
सिद्धौप्रयतमानानां नचाण्डमुपजायते ॥९२॥
गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव ।
आयुष्मान्जायतेपुत्रः कथंप्रेत्यइवाभवत् ॥ ९३ ॥

तथा अन्य महामूर्ख निर्बुद्धि सब गुणोंसे रहित नीच ऐसे लोग धन पुत्रादि सब कामनाओंसे पूर्ण दीखते हैं । कि जिनको सज्जन वा धर्मात्मा लोग अच्छा नहीं कहते मानते ॥ ८९ ॥ तथा अन्य कोई पश्वादि प्राणियों की हिंसामें निरन्तर प्रवृत्त रहने वाले और अनेक प्रकारसे लोगोंको ठगने वाले मनुष्य जन्मभर मरणपर्यन्त दुःखी दीखते हैं ॥ ९० ॥ और धनकी पैदायशका कुछ भी काम न करते किन्तु चुप बैठे हुए किसीके पास निरन्तर धन चला आता है । तथा कोई अन्य बहुत परिश्रम करके भी अप्राप्य धनादिको नहीं प्राप्त होता ॥ ९१ ॥ कोई लोग चाहते हैं कि हमारे बाद हमारे सन्तान ही हमारी संपत्तिके मालिक हों ऐसे अनेक श्रीमान् पुत्र होनेके उपाय करते हुए भी निर्वंश दीखते हैं गर्भस्थिति नहीं होती ॥ ९२ ॥ और अनेक लोग व्यभिचारादि करते हुये चाहते हैं कि कहीं गर्भ न रहजाय सांपके तुल्य गर्भ रहनेसे डरते हैं उनके यहां चिरजीवी हृष्ट पुष्ट ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है जो जानो मरके फिरसे जीवित होगया हो ॥ ९३ ॥

देवानिष्ट्वातपस्तप्त्वा कृपणैःपुत्रगृद्धिभिः ।
दशमासान्परिधृता जायन्तेकुलपांसनाः ॥ ९४ ॥
व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतांविपुलंधनम् ।
वेदनांनापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः ॥ ९५ ॥

तेचापिनिपुणवैद्याः कुशलाःसंभृतौषधाः ।
व्याधिभिःपरिक्लिश्यन्ते मृगाव्याधैरिवार्दिताः ॥ ९६ ॥
तेपिबन्तःकषायांश्च सर्पीषिविविधानिच ।
दृश्यन्तेजरयाभग्ना नगानागैरिवोत्तमैः ॥ ९७ ॥
केवाभुविचिकित्सन्ते रोगार्त्तान्मृगपक्षिणः ।
श्वापदानिदरिद्रांश्च प्रायोनार्त्ताभवन्तिते ॥ ९८ ॥

और कहीं ऐसा दीखता है कि अच्छे नामी प्रतापी पुत्र होनेके लिये देवतोंका आराधन और तप किया तब दश महीने तक गर्भ रहा परन्तु अन्तमें कुल कलंकी कुपुत्र पैदा होते हैं ॥ ९४ ॥ अनेक लोग महाभयङ्कर रोगोंसे पीड़ित होते हुये रोग निवृत्ति के लिये वहुत धन खर्च करने वाले रोगियों के दुःखको यत्न करते हुए भी वैद्य डाक्टर दूर नहीं करपाते ॥ ९५ ॥ और वे अच्छे २ नामी चतुर वैद्य अच्छी २ औषधियोंको रखने वाले होने पर भी रोगोंसे ऐसे पीडित होते हैं कि जैसे वधिक लोगोंसे मृग पीडित किये जाते हैं ॥ ९६ ॥ वे लोग अनेक प्रकारके औषधोंसे बनाये घृतोंको कषायोंको पीते और च्यवनप्राशादि पौष्टिक औषधोंका सेवन करते हुए भी वुढ़ापेसे ऐसे नष्ट हुए दीखते हैं कि जैसे अच्छे हाथी पहाड़के टुकड़ों को गिराके नष्ट करते हैं ॥ ९७ ॥ और यह भी देखने शोचनेकी वात है कि भूमण्डलमें जंगलके हरिणादि मृग वा पक्षियोंकी चिकित्सा कौन करता है ? अर्थात् जंगलके अनेक जीव और दरिद्री गरीव लोग प्रायः रोगोंसे पीड़ित होते ही नहीं ॥ ९८ ॥

घोरानपिदुराधर्षान् नृपतीनुग्रतेजसः ।
आक्रम्याददतेरोगाः । पशून्पशुगणाइव ॥ ९९ ॥
इतिलोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ।
स्रोतसासहसाक्षिप्तं ह्रियमाणंवलीयसा ॥ १०० ॥
नधनेननराज्येन नोग्रेणतपसातथा ।
स्वभावमतिवर्त्तन्ते येनियुक्ताःशरीरिणः ॥ १०१ ॥
नम्रियेरन्नजीर्येरन् सर्वेस्युःसर्वकामिनः ।

नाप्रियंप्रतिपश्येयुरुत्थानस्यफलेसति ॥ १०२ ॥
उपर्युपरिलोकस्य सर्वोगन्तुंसमीहते ।
यततेचयथाशक्ति नचतद्वर्त्ततेतथा ॥ १०३ ॥

संसार में जो बड़े २ तेजस्वी प्रतापी किसी से न दबने वाले किन्तु बड़े२ शूर सिंहादि को पकड़ने मारने वाले देश भरके राजाओं पर भी आक्रमण करके रोग ऐसे ही दबा लेते हैं कि जैसे सिंह गीदड़ों को दबा लेवे ॥ ९९ ॥ मनुष्य को संसार की ऐसी दशाओं को देखते हुए चित्त में शान्ति स्थापित करनी चाहिये । इस प्रकार शोक मोह और दुःखादि से घेरे हुए लोगों को अति बली कालप्रवाह ऊंच नीच दशा में गिरा रहा है ॥१००॥ जो २ प्राणी अपने २ प्रबल स्वभाव में बंधे हुए हैं उन का वह काम क्रोधादि के गढ़ों में गिराने वाले स्वभाव की वासना धन से राज्य से वा घोर तप करने से भी दूर नहीं होती ॥ १०१ ॥ यदि मनुष्यादि प्राणियों की सभी इच्छा पूरी होने लगें तो न कोई मरे न बुड्ढा हो और न अप्रिय को देखे किन्तु सबकी सब कामना सिद्ध हो जावें ॥ १०२ ॥ संसार में सभी प्राणी ऊंची २ दशा में जाने की चेष्टा स्वभाव से ही करते हैं और यथाशक्ति वैसा ही यत्न भी करते हैं। परन्तु वैसा न होता और न हो सकता है ॥ १०३ ॥

ऐश्वर्यमदमत्तांश्च मत्तान्मद्यमदेनच ।
अप्रमत्ताःशठाःशूराः विक्रान्ताःपर्युपासते ॥ १०४ ॥
क्लेशाःपरिनिवर्त्तन्ते केषांचिदसमीक्षिताः ।
स्वंस्वंचपुनरन्येषां नकिंचिदधिगम्यते ॥ १०५ ॥
महच्चफलवैषम्यं दृश्यतेकर्मसन्धिषु ।
वहन्तिशिबिकामन्ये यान्त्यन्येशिबिकागताः ॥ १०६॥
सर्वेषामृद्धिकामाना-मन्येरथपुरस्सराः ।
मनुष्याश्चशतस्त्रीकाः शतशोविगतास्त्रियः ॥ १०७ ॥
द्वन्द्वारामेषुभूतेषु गच्छन्त्येकैकशोनराः ।
इदमन्यत्पदंपश्य नात्रमोहंकरिष्यसि ॥ १०८ ॥

संसार में यह भी देखा जाता है कि जिन को अपने धनी वा राजा

रईस होने का नशा चढ़ा है वा जो मद्य के नशा में मस्त हैं उन लोगों की प्रमाद वा नशा से रहित पराक्रमी शूरवीर मूर्ख लोग सेवा करते हैं ॥१०४॥ किन्हीं लोगों के दुःख विना ही देख भाल किये स्वयं नष्ट हो जाते हैं, तथा किन्हीं को स्वयं ऐसे दुःख आघेरते हैं कि जिनका कुछ भी कारण खोजने पर नहीं मिलता ॥ १०५ ॥ और कहीं ऐसा विषम उलटा फल दीखता है कि पालकी में चढ़के चलने वाले दुःखी और उसी पालकी वा पीनस का बोझा उठाने वाले सुखी हैं। जैसे पालकी में चढ़े रोगी रईस रोग पीड़ा से चिल्लाते और कहार आनन्द करते हैं ॥ १०६ ॥ कुछ राजा रईस लोग ऐसे हैं कि जिनके रथादि सवारी के आगे पीछे भृत्य लोग दौड़ा करते हैं। किन्हीं के घर में सैकड़ों स्त्रियां हैं वे सब काम भोग के विना दुखिया और सैकड़ों पुरुष स्त्रियों के विना दुःखी हैं ॥ १०७ ॥ हर्ष शोक हानि लाभ सुख दुःखादिमें रमने वाले प्रायः ऐसे ही सब दुःखी दीखते हैं। अर्थात् ८१ श्लोक से इधर संसार में नाना प्रकार के दुःख दिखाये हैं अब नारद जी कहते हैं कि हे शुकदेव जी! यह आगे कहा विचार और देखो जिस से फिर तुम को मोह नहीं होगा ॥ १०८ ॥

त्यजधर्ममधर्मंच उभेसत्यानृतेत्यज ।
उभेसत्यानृतेत्यक्त्वा येनत्यजसितंत्यज ॥१०९॥
एतत्तेपरमंगुह्य-माख्यातमृषिसत्तम ।
येनदेवाः परित्यज्य मर्त्यलोकंदिवंगताः ॥ ११० ॥
ततोमुहूर्त्तंसंचिन्त्य । निश्चितङ्कृतिमात्मनः ।
परावरज्ञोधर्मस्य परांनैश्रेयसींगतिम् ॥१११॥
कथंत्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयंगतिमुत्तमाम् ।
नावर्त्तेयंयथा भूयोयोनिसंकरसागरे ॥११२॥

तुम धर्म अधर्म दोनोंको छोड़ो, सत्य असत्य दोनोंको छोड़ो इन दोनों सत्य असत्यको छोड़के जिस मनोरथ करके तुम हीन हो उसे भी छोड़दो। जैसे प्रकाश अन्धकारादि दो २ साथ ही साथ आगे पीछे लगे रहते हैं। वैसे ही अधर्म के साथी धर्मका तथा असत्य के साथी सत्यका त्याग कहा जानो ॥१०९ नारद जी कहते हैं कि हे उत्तम ऋषि शुकदेव जी! यह परमरहस्य

विचार हम ने तुम से कहा है कि जिस ज्ञानके प्रभावसे देवता लोग मर्त्यलोक को छोड़ के स्वर्गको प्राप्त हुए हैं ॥ ११० ॥ इसके पश्चात् एक मुहूर्त्तमात्र धर्म के तत्त्वज्ञानी शुकदेव जी ने अपनी परम निश्रेयसगति का निश्चित विचार करके अपने मन में कहा कि हम संसारके सब झगड़ों से मुक्त होकर ऐसी उत्तमगतिको कैसे प्राप्त हों कि जिस से चौरासी लाख योनियों के महाभयंकर अगाध संसार सागर में डूबने के लिये फिर न लौटें ॥१११ । ११२॥

परंभावंहिकाङ्क्षामि यतोनावर्ततेपुनः ।
सर्वसङ्गान्परित्यज्य निश्चितोमनसागतिम् ॥११३॥
तत्रयास्यामियत्रात्मा शमंमेऽधिगमिष्यति ।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्रस्थास्यामिशाश्वतः॥११४॥
नतुयोगमृतेशक्या प्राप्तुंसापरमागतिः ।
अवबन्धोहिबुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते ॥११५॥
तस्माद्योगंसमास्थाय त्यक्त्वागृहकलेवरम् ।
वायुभूतःप्रवेक्ष्यामि तेजोराशिंदिवाकरम् ॥११६॥
इति मोक्षधर्मपर्वणि ३३१ अध्याये नारदगीतापूर्णा ॥

महर्षि शुकदेवजी फिर कहते हैं कि हम उस भावकी काङ्क्षा करते हैं कि जिस से फिरकभी दुःख सागर में नहीं पड़ें सब चराचर वस्तुओंको मनसे भुलाकर मन से अपनी गति निश्चित करके वहां जाऊंगा जहां मेरे आत्माको पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी और जिस दशामें अजर अमर अभय हो कर अनन्त काल तक स्थिर रहूंगा ॥ ११३ । ११४ ॥ परन्तु पूर्ण योग समाधिस्थ हुए विना वह परमगति [मोक्ष] किसी को कभी प्राप्त हो नहीं सकती और ज्ञानी पुरुष का शेष कर्मों से बन्धन हो नहीं सकता तिससे योगसमाधि में स्थित होके और इस शरीर रूप अशुद्ध महामलिन घरको त्यागकर वायु के तुल्य अपने सूक्ष्म स्वरूपसे तेज स्वरूप आदित्य मण्डलमें प्रवेश करूंगा ॥ ११५ । ११६ ॥ ऐसा विचार करके शुकदेव जी योग समाधिस्थ होकर और स्थूल शरीर को छोड़ के मोक्षको प्राप्त हुए ।

यह मोक्षधर्म पर्वमें नारदगीता समाप्त हुई ।

और गीतासंग्रह पुस्तक भी समाप्त हुआ ॥



श्रीमद्भागवतकी विषयसूची

अष्टमस्कन्ध.